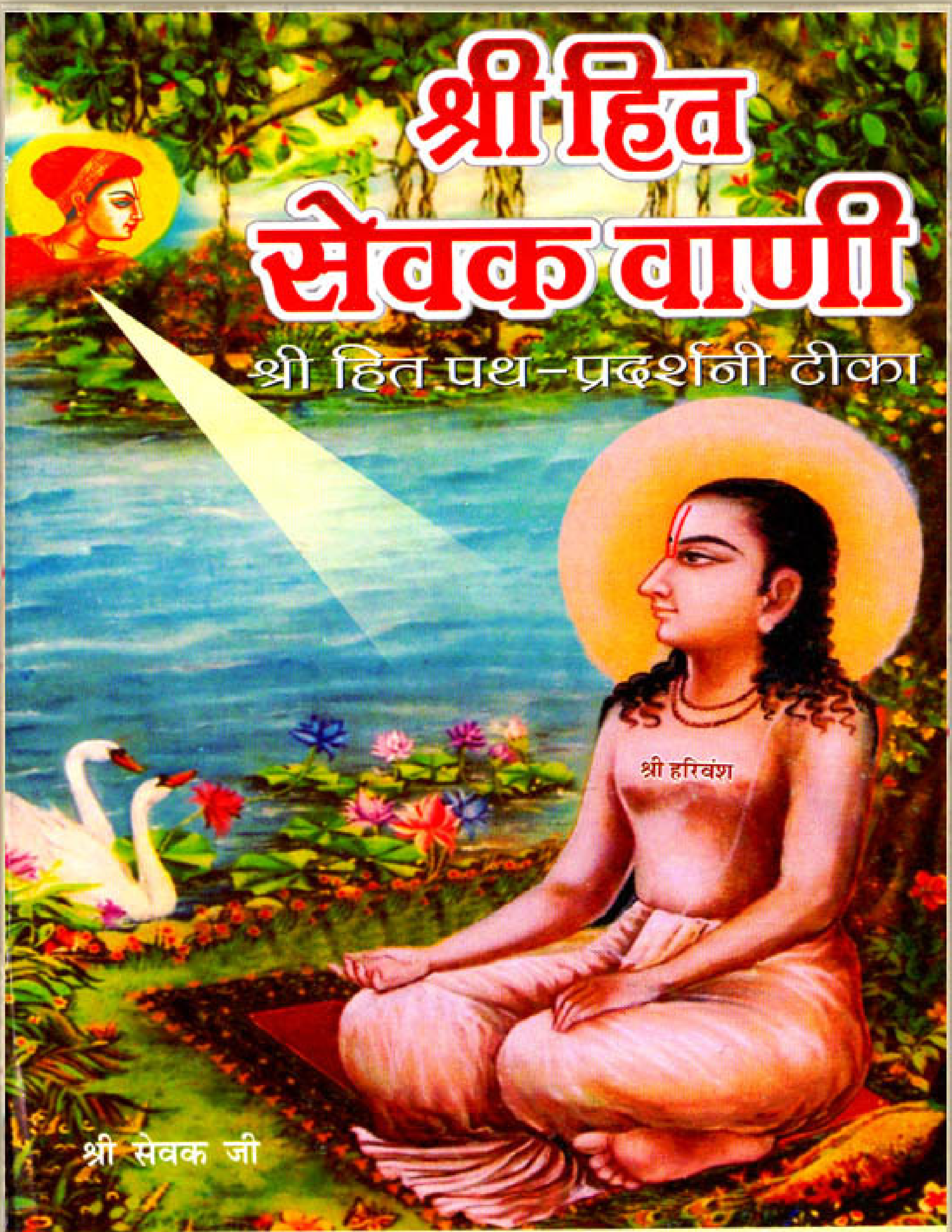


श्री हित
सेवक वाणी
श्री हित पथ-प्रदर्शनी टीका
श्री हरिवंश
श्री सेवक जी
टीकाकार - परम भागवत स्वामी श्री हितदास जी महाराज

॥ श्रीहित राधावल्लभो जयति ॥

॥ श्रीहित हरिवंश चन्द्रो जयति ॥

श्रीहित सेवक वाणी

श्रीहित नादकुल भूषण रसिक शिरोमणि श्रीदामोदर दास जी

"सेवक जी" की वाणी

श्रीहित पथ-प्रदर्शिनी टीका

टीकाकार

परम रसिक स्वामी श्री हितदास जी महाराज

'रसिक-पद-रेणु'



प्रकाशक :

श्रीहित साहित्य प्रकाशन

श्री हिताश्रम सत्सङ्ग भूमि

गान्धी मार्ग, श्रीधाम वृन्दावन-२८११२१

प्रकाशक–

श्रीहित साहित्य प्रकाशन

श्री हिताश्रम सत्सङ्ग–भूमि

गान्धी मार्ग, वृन्दावन – २८११२१

श्रीहिताश्रम– (९२१९५९५३८९, ०५६५–६४५४३८७

श्रीहित अचलविहार (०५६५–६४५५११४

टीकाकार–

परम भागवत

स्वामी श्री हितदासजी महाराज

“रसिक–पद–रेणु”

प्रथम संस्करण–

वैशाख शुक्ल एकादशी, हितोत्सव

हिताब्द–५०९ वि. सं. – २०६८

१००० प्रतियाँ

न्यौछावर– १००/- (एक सौ रुपये)

मुद्रक–

राधा प्रेस,

२४६५, कैलाश नगर,

दिल्ली–११००३१

॥ श्री हितं वन्दे ॥

प्रकाशकीय

परम पूज्य मेरे दादा गुरु श्रीहितकृपा मूर्ति महाराज श्री के द्वारा अनुवादित श्री सेवकवाणी की यह 'श्रीहित-पथ प्रदर्शिनी' टीका आपके हाथ में है। वास्तव में यह टीका तो लगभग सन् १९५१ में श्रीहित रास मण्डल पर ही अनुवादित हो चुकी थी पर महाराज जी ने अपने जीवन काल में इसे छिपाकर रखा। आज हमारा परम सौभाग्य है कि इसे प्रकाशित करवाने का सुअवसर हमें प्राप्त हुआ है। इसके मूल में मेरी बड़ी गुरु बहन परम साध्वी श्री हितप्रिया किंकरी जी हैं जिन्होंने महाराज जी की अन्तिम अवस्था में अनुपम सेवा की और उनके निकुंज-प्रवेश के पश्चात् उनके इस अधूरे कार्य को अपने प्रयत्न से प्रकाश में लाई। आज वे अपने इस कार्य से अपने गुरु की और भी प्यारी हो गई हैं। मेरी पूरी सद्भावना उनके साथ है वे महाराज श्री के द्वारा राधा सुधा निधि के जो प्रवचन श्री लीला मां के यहाँ हुये थे जो लगभग २२० श्लाकों तक हैं उसे भी पुस्तकाकार में रसिकों के बीच में लाये जिसके लिये उन्होंने कार्य भी शुरू कर दिया है। श्री जी उन्हें इस सेवा को करने के लिये स्वास्थ्य और शक्ति दे।

टीका के बारे में मैं क्या कहूँ, रसिक स्वयं पढ़ेंगे और अनुभव करेंगे इतने सरल ढंग से महाराज श्री ने समझाया है वास्तव में इस प्रकार की टीका की आज के समय में बहुत जरूरत थी जो अपने मूल चिन्तन के साथ भागवत धर्म को भी जोड़कर चले। यदि इस 'श्रीहित पथ-प्रदर्शिनी' टीका का कुछ अंश भी हमारे जीवन में उतर जाये तो इस टीका का छापना सफल हो जायेगा। टीका के प्राक्कथन

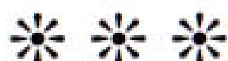
को लिखकर श्रीहित अमरीश जी ने बहुत ही कृपा की; अपने भावों को उन्होंने बहुत ही सुन्दर ढंग से रखा इसके लिये वे साधुवाद के पात्र हैं।

इस टीका को छपाने की सम्पूर्ण सेवा हिसार निवासी श्रीमती शशी एवं अनिल तनेजा के द्वारा हुई। मैं अपने गुरु जी एवं श्रीहित ललित लाड़िली लाल जी की तरफ से उन्हें आशीर्वाद देता हूँ वे स्वस्थ रहें प्रसन्न रहें, धन-धान्य से सम्पन्न रहें और इसी प्रकार श्रीजी की सेवा में सदैव संलग्न रहें।

श्रीहित दासानुदास

श्रीहित कमल दास

अध्यक्ष- श्रीहिताश्रम, श्रीधाम वृन्दावन



बसौ लसौ फूलौ फलौ, मो हीय भूमि विशाल।
कनक लता सी लाड़िली, लपटी स्याम तमाल।।



श्री हिताश्रम विराजमान् पूज्य महाराज श्री के प्राणसर्वस्व
लाड़िले ठा॰ श्री हित ललित लाड़िली लाल जू

॥ श्री हित ॥

समर्पण

परम पूज्य गुरुदेव के परमाराध्य

निभृत निकुंज विलासी

श्रीहित ललित लाड़िली लाल जू

के सुकोमल कर-कमलों

में सप्रेम समर्पित।

—श्रीहित दासानुदास

श्रीहित कमल दास

अनुक्रमणिका

क्रम.	विषय	पृष्ठ
१	पुरोवाक्	सात
२	ग्रन्थ के सम्बन्ध में	ग्यारह
३	टीकाकार का परिचय	सत्रह
४	महाराजश्री की सेवक-धाम यात्रा	उन्नीस
५	इष्ट वन्दना	छब्बीस
६	श्रीहित सेवक जू कौ मंगल	१
७	श्रीहित सेवकजी का चरित्र	३
८	श्रीहित सेवक सुयश	३९
९	मङ्गलाचरण	६३

श्रीहित सेवकवाणी

१	यश विलास, प्रथम प्रकरण	६५
२	श्रीहित रस-विलास, द्वितीय प्रकरण	९४
३	श्रीहित नाम प्रताप, तृतीय प्रकरण	११०
४	श्रीहित वाणी प्रताप, चतुर्थ प्रकरण	१३९
५	श्रीहित स्वरूप सार संचयन, पंचम् प्रकरण	१६६
६	श्रीहित धर्मिनु कृत, षष्ठ प्रकरण	१७७
७	श्रीहित रसरीति, सप्तम् प्रकरण	१९०
८	श्रीहित अनन्य टेक, अष्टम् प्रकरण	२०१
९	श्रीहित कृपा अकृपा लक्षण, नवम् प्रकरण	२२५
१०	श्रीहित भक्त भजन, दशम् प्रकरण	२४४
११	श्रीहित नाम प्रभाव धाम ध्यान, एकादश प्रकरण	२८७
१२	श्रीहित मंगल गान, द्वादश प्रकरण	३१२
१३	श्रीहित धर्मी धर्म विधान, त्रयोदश प्रकरण	३२४
१४	श्रीहित काचे धर्मी धर्मविधान, चतुर्दश प्रकरण	३४१
१५	श्रीहित अलभ्य लाभ, पंचदश प्रकरण	३६९
१६	श्रीहित अबोलनौं, षोडश प्रकरण	३८४
	फल स्तुति	३९५

पुरोवाक्

भक्त का अथवा साधु का वस्तुत: कोई जीवन वृत्त नहीं होता, उसके जीवन का समग्र उसकी प्रवृत्ति, वृत्ति तथा कृति में समाहित हो जाया करता है। उसी मंगलमयी वाणी अथवा सद्विचार मंजूषा रूपी प्रकाश पुञ्ज से उस महद् विभूति का सान्निध्य प्राप्त किया जा सकता है। मुझे श्रीहित कृपा मूर्ति रसिक पद रेणु परम श्रद्धेय श्रीहितदास जी महाराज का सामीप्य, सान्निध्य तो अधिक प्राप्त नहीं हुआ, परन्तु उनकी रचनाओं ने, उनके चिंतन ने अथवा जो उस दिव्य विभूति के बारे में श्रवण करने को मिला उन सुयश सिंचित विचार लहरियों ने संयुक्त होकर निश्चित ही अंत: करण में एक विमल व्यक्तित्व को आकार प्रदान किया, जिससे मुझे चेतना के एक स्तर पर श्री वृन्दावन निष्ठा को प्रतिष्ठा प्रदान करने वाले एक सुदृढ़, सरस, सुंदर रसानुरागी रसिक संत का चिरस्थाई संग प्राप्त हुआ।

अनन्यता एवं दृढ़ता, यह रसोपासना का प्राण हैं, मेरूदण्ड है। परन्तु आज इसी अनन्यता एवं दृढ़ता ने संकीर्णता एवं रूक्षता का रूप लेकर सम्यक् प्रकार से वस्तु प्रदान करने की सुंदर परिपाटी "सम्प्रदायवाद" को दूषित प्राय: ही कर दिया है। परन्तु श्री महाराज जी सदा ही इसके अपवाद रहे। वह एक ऐसा व्यक्तित्व था जिसकी अनन्यता, सहज उदारता से विभूषित थी। जिसकी दृढ़ता को उसकी सुंदर सरलता ने सदा अलंकृत ही किया। जहाँ विरक्ति में कहीं किञ्चित मात्र भी उदासीनता नहीं अपितु स्वेष्ट की अनुरक्ति से पूरित नित्य नवायमान् उत्फुल्लता थी। जिसकी रसिकता में श्रीमद्हिताचार्य द्वारा प्रकटित श्री वृंदावनेश्वरी के दास्योत्सव की दुर्लभ अनुभूति की दिव्यता थी एवं वाणी में वंशी के उस मधुराति

मधुर रस विलास के गान का आस्वादन था। महाराज श्री ने एक अनन्य रसिक की धर्म परम्परा को स्वीकार कर नित्य विहार रस सिंधु का अवगाहन किया एवं उच्छरित हित रस से रसिक समाज को रसायित किया।

महाराज श्री ने जो श्री कहा, लिखा अथवा साहित्य सृजन किया, वह सब कोमलता, प्राञ्जलता, आत्मीयता, सहजता, सरसता आदि सद्गुणों से समलंकृत तो है ही पर उसमें उनकी आंतरिक अनुभूतियों की सुषमा एवं निबिड़ता भी है। गुण गंभीर श्रीहित वाणी के सतत् चिंतन एवं मंथन की उज्जवलता एवं सुरभि महाराज श्री के द्वारा की गई श्री हित चतुरासी की किञ्चित् पूर्व प्रकाशित टीका "रसिक मन रँजिनी" में सहज ही प्रकट हुई है। उसी क्रम में अब यह अगला हित सौरभ सुवासित वाणी पुष्प श्री सेवक वाणी की "हित-पथ प्रदर्शिणी" टीका रसिकों को आनन्दित करने के लिए प्रफुल्लित है।

यह सुविदित है, श्री सेवक वाणी श्री राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रधान प्रमाण ग्रन्थ है। भाव की दृष्टि से तो यह वाणी साक्षात् श्रीहरिवंश द्वारा प्रदत्त प्रीति प्रसाद है ही जिसके आधार पर अद्यावधि रसिक महानुभाव आगम निगम अगोचर हित रस रीति के सैद्धान्तिक मर्म को हृदयंगम कर "श्रीहरिवशं गुसाँई भजन की रीति" को जो अपने आप में अनुपम है, अनूठी है, अतुल्य है, परन्तु अति दुर्लभ एवं दुरूह है, सिद्ध करते आ रहे है। यदि कहा जाए कि श्री हरिवंश के परमाद्भुत रस विभु को सम्यक् प्रकारेण समझने के लिए श्री सेवक वाणी ही एक आधार है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। स्वनाम धन्य अनन्य रसिक श्री नागरीदास जी के भाव पूरित कथन से इस वाणी के आश्रय का महत्व और भी स्पष्ट हो जाता है :-

"प्रथम श्री सेवक पद शिर नाऊँ।
करौ कृपा श्री दामोदर मोपै श्री हरिवंश चरण रति पाऊँ।।
गुण गंभीर श्री व्यासनन्दन जू के तुव परसाद सुजस रस गाऊँ।
नागरी दास के तुमहीं सहायक रसिक अनन्य नृपति मन भाऊँ।।"

अत: रसिक पद रेणु श्री महाराज जी द्वारा ऐसे अद्भुत ग्रन्थ की व्याख्या निश्चित ही सम्प्रदाय के साहित्य की श्री वृद्धि तो करेगी ही रसिक समाज भी इस ग्रन्थ रत्न को प्राप्त कर मुदित एवं लाभान्वित होगा। महाराज श्री ने जिस प्रसन्न एवं उदार शैली में इस ग्रन्थ की व्याख्या की है, उससे यह केवल एक साम्प्रदायिक ग्रन्थ न होकर सार्वभौमिक धर्म प्रेम किंवा हित को प्रतिष्ठित करने वाले अपने वास्तविक स्वरूप में स्थापित होगा।

यह सब विशेषताएँ इस व्याख्या को एक रस के मर्मज्ञ एवं साहित्य के अधिकारी विद्वान द्वारा किये गये एक सुष्ठु प्रयास के रूप में प्रतिष्ठित करती है।

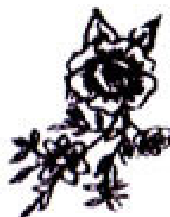
इस ग्रन्थ एवं ग्रन्थ कर्त्ता के विषय में परम श्रद्धेय उत्सव मूर्ति बाबा श्री हित कमल दास जी महाराज ने मुझे कुछ कहने का सुअवसर प्रदान किया, यह मेरे लिए सौभाग्य एवं सम्मान की बात है। एक बात यहाँ पूज्य बाबा के विषय में कहना चाहूँगा कि वह एक ऐसा व्यक्तित्व हैं जिनकी श्रीहित एवं श्री हित दासों के प्रति गरिष्ठ निष्ठा को मैंने निकट से देखा है। मुझे कई बार एकांत में उनके सान्निध्य में सत्चर्चा के वह क्षण प्राप्त हुए जहाँ मैंने किसी स्थान के महंत के संग का नहीं अपितु रसिक अनन्य धर्म परिपाटी का निर्वाह करने वाले एक रसिक महापुरुष एवं एक गहन, गंभीर, मौन, हित धर्मी के संग का अलभ्य लाभ प्राप्त किया।

"रसिक पद रेणु" श्री महाराज जी के इस विमल साहित्य रस को बाबा एक के बाद एक करके मूर्त्त रूप प्रदान कर रहे हैं, यह निश्चित ही प्रणम्य है, वंदनीय है, अभिनन्दनीय है। श्री वृन्दावनेश्वरी पूज्य बाबा का सान्निध्य हमें सदैव कृपा कर प्रदान करें। रसिक भूषण श्रीहित ध्रुवदास जी महाराज के पुनीत शब्दों का स्मरण कर विराम लूँगा :-

या रस कौ साधन नहिं कोई, एक कृपा तें जो कछु होई।
सोऊ कृपा उपजै किहि भाँति, रसिकनि संग फिरै दिन राती।।

श्रीहित रसिक पद रजाश्रित

-हित अम्बरीष



।। श्रीहित राधावल्लभो जयति ।।

।। श्रीहित हरिवंश चन्द्रो जयति ।।

ग्रन्थ के सम्बन्ध में–

विक्रम की सोलहवीं शती के अन्त में गोस्वामी श्रीहित हरिवंशचन्द्र महाप्रभु पाद ने श्रीराधा–रसोपासना की अत्यद्भुत शैली प्रकट की। आपकी यह शैली वेद, पुराण, स्मृति, संहिता एवं तत्कालीन प्रचलित श्रीराधा कृष्ण रसोपासना की शैली से विलक्षण थी। आपके पूर्व श्रीराधा कृष्ण का विप्रयोग शृङ्गार परकीया भाव से प्रायः पुराणों एवं महात्माओं के द्वारा वर्णन गान किया गया था। इस वर्णन में श्रीकृष्ण अवतार के शृङ्गार–रस को ही प्रधान मान कर अन्य रसों जैसे शान्त, दास्य, सख्य एवं वात्सल्य का लघुत्व प्रकट किया गया था किन्तु गोस्वामी श्रीहित हरिवंशचन्द्र ने अपनी रसोपासना के क्षेत्र में श्रीराधा की प्रधानता रखी। उनका भाव स्वकीया एवँ परकीया से विलक्षण नित्य–मिलन था। इस रसोपासना में श्रीराधा विषय और श्रीकृष्ण आश्रय थे। इस नित्य–मिलन उज्ज्वल रस में विरह, वियोग, भ्रम एवं मानादि के लिये कोई स्थान ही नहीं रहा। इस रस की आधार–भूमि था प्रेम धाम श्री वृन्दावन।

चूँकि अन्य उपासकों ने भी ब्रज या वृन्दावन को ही अपना रसाधार माना तथापि रसिकाचार्य पाद ने वृन्दावन को नित्य वृन्दावन और सर्वोपरि धाम स्वीकर किया। आपका वृन्दावन दिव्य, चिद्घन होते हुए भी भूतल–स्थित परात्पर धाम माना गया।

इस प्रकार आपके द्वारा प्रकाशित रस 'नित्य–विहार रस' के नाम से प्रख्यात हुआ। यह 'नित्य–विहार रस' उस शती की एक विलक्षण एवं अनुपम देन थी। इसका माधुर्य सर्वोपरि था अतः आकर्षक भी सिद्ध हुआ।

रसिकाचार्य श्रीहित हरिवंशचन्द्र के पश्चात् इस रस का विशद प्रचार किया, श्रीदामोदरदास - सेवकजी ने। यह सेवकजी कौन थे और उन्होंने कैसे इसका व्यापक प्रचार किया? यह बात पाठकों को सेवकजी के चरित्र में मिलेगी; जो इसी ग्रन्थ में सम्बद्ध है। हम यहाँ केवल सेवकजी के ग्रन्थ 'सेवक वाणी' की ही चर्चा करेंगे, जिसके आधार पर गोस्वामी हित हरिवंशचन्द्र द्वारा स्थापित-रस मार्ग 'नित्य-विहार' की नींव सुदृढ़ हुई और उसका प्रचार भी हुआ।

विक्रम सम्वत् १६०९ में दामोदरदासजी गोस्वामी श्रीहित हरिवंश चन्द्र के कृपापात्र शिष्य हुए। उन पर वंशी अवतार श्रीहित हरिवंश महाप्रभु की कृपा हुई और उन्हें इष्ट-तत्व नित्य विहार रस का साक्षात्कार हुआ। तदुपरान्त उनके निर्मल हृदय में दिव्य वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। यही दिव्य वाणी 'सेवक-वाणी' के नाम से प्रख्यात हुई।

'श्रीसेवक वाणी' एक दिव्य प्रसाद ग्रन्थ है। इसका प्राकट्य सेवकजी- दामोदरदास जी की महा प्रेमोन्मत्त दशा में हुआ है, अतः इसकी भाषा जटिल, क्लिष्ट, असम्बद्ध जैसी और ग्रामीण भाषा मिश्रित है फिर भी इसमें परम तत्व प्रेम का बड़ा विशद वर्णन है।

सेवकजी के मत से गोस्वामी श्रीहित हरिवंशचन्द्र साक्षात् प्रेम तत्व के अवतार हैं। वे नित्य विहारी श्रीराधावल्लभ लाल की प्रेम-नादमयी एवं विश्व विमोहनी वंशी के स्वरूप हैं। जिस प्रकार प्रेम व्यापक और एक देशीय है, उसी प्रकार श्रीहरिवंशचन्द्र भी व्यापक प्रेम होते हुए भी व्यास मिश्र के कुल-दीपक हैं। वे प्रिया-प्रियतम, सखी एवं श्रीवन हैं। वे रस हैं, रस के आधार हैं और रसमय केलि के सूत्रधार एवं स्वयं रस केलि हैं। इसके सिवाय वे चराचर व्यापी प्रेम हैं, उनके सिवाय और कुछ नहीं हैं।

'सेवक वाणी' में कुल सोलह प्रकरण हैं। इन प्रकरणों में क्रमशः श्रीहरिवंश का यश-विस्तार (अर्थात् वैभव ऐश्वर्य रूप) श्रीहरिवंश का

रसमय स्वरूप, उनके नाम का प्रताप, उनकी रसमयी वाणी (वचनावली) का प्रभाव, प्रताप उनके स्वरूप का विचार, उनके द्वारा प्रकाशित नित्य-विहार के उपासकों का धर्म-कर्त्तव्य, रस-रीति, अनन्यता, श्रीहरिवंश की कृपा एवं कृपा हीनता के लक्षण; भक्तों के प्रति भाव; युगल की केलि का स्वरूप; श्रीहरिवंश का नाम प्रभाव-धाम-ध्यान; श्रीहरिवंश मंगल गान, कच्चे एवं पक्के हित धर्मियों का स्वरूप; उनका कर्त्तव्य, अलभ्य वस्तु (नित्य विहार दाता श्रीहरिवंश) का लाभ; और युगल किशोर के पारस्परिक मान के स्वरूप का वर्णन है।

इसके सिवाय इस ग्रन्थ में अनेकों युक्तियों, तर्कों एवं प्रमाणों के द्वारा प्रेम-धर्म (हित-रीति) को ही सर्वोपरि बताया गया है। सेवकजी ने प्रेम जैसे अनिर्वचनीय विषय का बड़ी कुशलता के साथ केवल सोलह प्रकरणों में विस्तीर्ण एवं समुज्ज्वल वर्णन किया है। प्रेम तत्व की प्राप्ति के विविध साधनों (उपायों) का सप्रभाव वर्णन किया है उन्होंने इसमें। इस विचार से यदि इस ग्रन्थ को थोड़े शब्दों में श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदाय का भाष्य ग्रन्थ कह दें तो कोई अत्युक्ति न होगी।

जो लोग सेवक वाणी के तत्व एवं सिद्धान्तों से दूर हैं, अनभिज्ञ हैं, वे श्रीराधावल्लभीय नित्य-विहार रसोपासना मार्ग में ठीक-ठीक रीति से चलने में असमर्थ होंगे, ऐसा विज्ञ रसिक महानुभावों का मत ही नहीं वरं आग्रह है।

जो सेवक बानी नहिं जानैं। ताकी बात न रसिक प्रमानैं।।

अतएव प्रत्येक रसोपासक के लिये विशेषतया श्रीहित राधावल्लभीय साधक के लिये इस ग्रन्थ का प्रणयन-अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। इसके स्वाध्याय से प्रेम-जिज्ञासु का पथ प्रशस्त होगा।

इस 'सेवक-वाणी' पर अब तक ब्रज भाषा में अनेकों टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। समय के फेर से अब तक ब्रज-भाषा या तो केवल

काव्य की भाषा रह गयी है या किन्हीं किन्हीं के लिये तो किसी काम की नहीं। आशय यह कि अब ब्रज भाषा का युग समाप्त प्राय हो गया; अत: समय की आवश्यकता और माँग के विचार से हमने इस ग्रन्थ पर बोल-चाल की हिन्दी में टीका लिखने का प्रयास किया है। हमारा यह बाल-प्रयास जो सर्वथा भूलों से भरा है सर्व प्रथम सन् १९४४ ई.वी. में प्रारम्भ हुआ था, उस समय इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक दश प्रकरणों का अर्थार्थ मात्र लिखा गया था। इसके बाद १९५१ ई.वी. में मुझे छ: मास एकान्त सेवन का अवसर मिला। उस अवसर का सदुपयोग कुछ ग्रन्थों के प्रणयन में किया गया, जिनमें से सेवक-वाणी की टीका टिप्पणी भी एक है। उस समय इसके शेष छ: प्रकरणों की टीका पूरी होकर इस पर साधारण सी टिप्पणी भी लिखी गयी। वही आपके समक्ष पुस्तकाकार रूप में उपस्थित है।

टीका-टिप्पणी लिखते समय सबसे बड़ी कठिनाई इस ग्रन्थ के मूल पाठ की रही। बहुत प्रयत्न करने पर भी हमें ग्रन्थ रचना काल का पाठ उपलब्ध नहीं हो सका, तब आज से कोई १७५ वर्ष प्राचीन प्रति से ही पाठ लिया गया, जो अब तक के प्रकाशित पाठों से अधिक शुद्ध एवँ संगत है।

मूल पाठ के सम्बन्ध में एक बात और ज्ञातव्य है कि सेवक वाणी की भाषा मध्य प्रान्तीय, बुन्देलखण्डी एवं ब्रज-भाषा का सम्मिश्रण है। जो लोग तीनों स्थानों की भाषाओं से पूर्ण परिचित नहीं हैं, वे सेवक वाणी के शब्दों एवँ वाक्यों के ठीक-ठीक अर्थ जानने, समझने में बड़ी कठिनाई पाते हैं अत: हमने इस टीका में तीनों भाषाओं के प्रान्तीय शब्दों का विचार करके ही अर्थ लिखने का प्रयास किया है; किन्तु इसमें हमारी सफलता कहाँ तक है, हम नहीं कह सकते।

टीका प्राय: अक्षरार्थ प्रधान है, कहीं कहीं कठिनाई आ पड़ने पर भावात्मक हो गयी हो तो कहा नहीं जा सकता। हाँ, जहाँ-कहीं अर्थ करने में गुत्थी उलझी सी जान पड़ी विशेषार्थ के लिये टिप्पणी दी गयी है।

इसके सिवाय प्रत्येक प्रकरण के प्रारम्भ में 'पूर्व-परिचय' शीर्षक द्वारा सम्पूर्ण प्रकरण के विषय से परिचय कराया गया है। इसी तरह किसी-किसी छन्द के पूर्व में ऐसी परिचयात्मिका सूचना सी लगी मिलेगी जो एक छन्द से दूसरे छन्द का सम्बन्ध अथवा छन्दगत विषय का निर्देश करती है। मेरी अपनी समझ में यह पूर्व-परिचय नवीन पाठक के लिये तो अवश्य उपयोगी सिद्ध होगा।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में दो प्रकार के कोष्ठों का प्रयोग यत्र-तत्र मिलेगा। जहाँ-कहीं किसी शब्द या पदांश को स्पष्ट करने का प्रयास है लघु कोष्ठ (---) का प्रयोग किया गया है, और जो शब्द, वाक्य या पद अपनी ओर से विषय की संङ्गति बैठाने, वाक्य पूर्ति करने या विषय को पूर्ण स्पष्ट करने के लिये लिखा गया है, वह बड़े कोष्ठ [---] के अन्तर्गत मिलेगा।

अर्वाचीन प्रकाशित एवँ प्रचलित प्रतियों में ग्रन्थ के प्रकरणों के नाम नये ढंग से निर्मित करके लिखे गये हैं, किन्तु हमने इस विषय में प्राचीन प्रति के प्रकरण सम्बन्धी नाम को ही अधिक उपयुक्त समझा है, अत: ग्रन्थ में उसे ही स्वीकार किया है; यथा –

प्रकरण	नवीन निर्मित नाम	प्राचीन शुद्ध नाम
पंचम	हित इष्टाराधन	सर्वस्व सार संचयन
एकादश	हित ध्यानगुण प्रकाश	नाम प्रभाव धाम ध्यान
त्रयोदश	पाके धर्मी	धर्मी धर्म विधान
चतुर्दश	काँचे धर्मी	काँचे धर्मी धर्म विधान

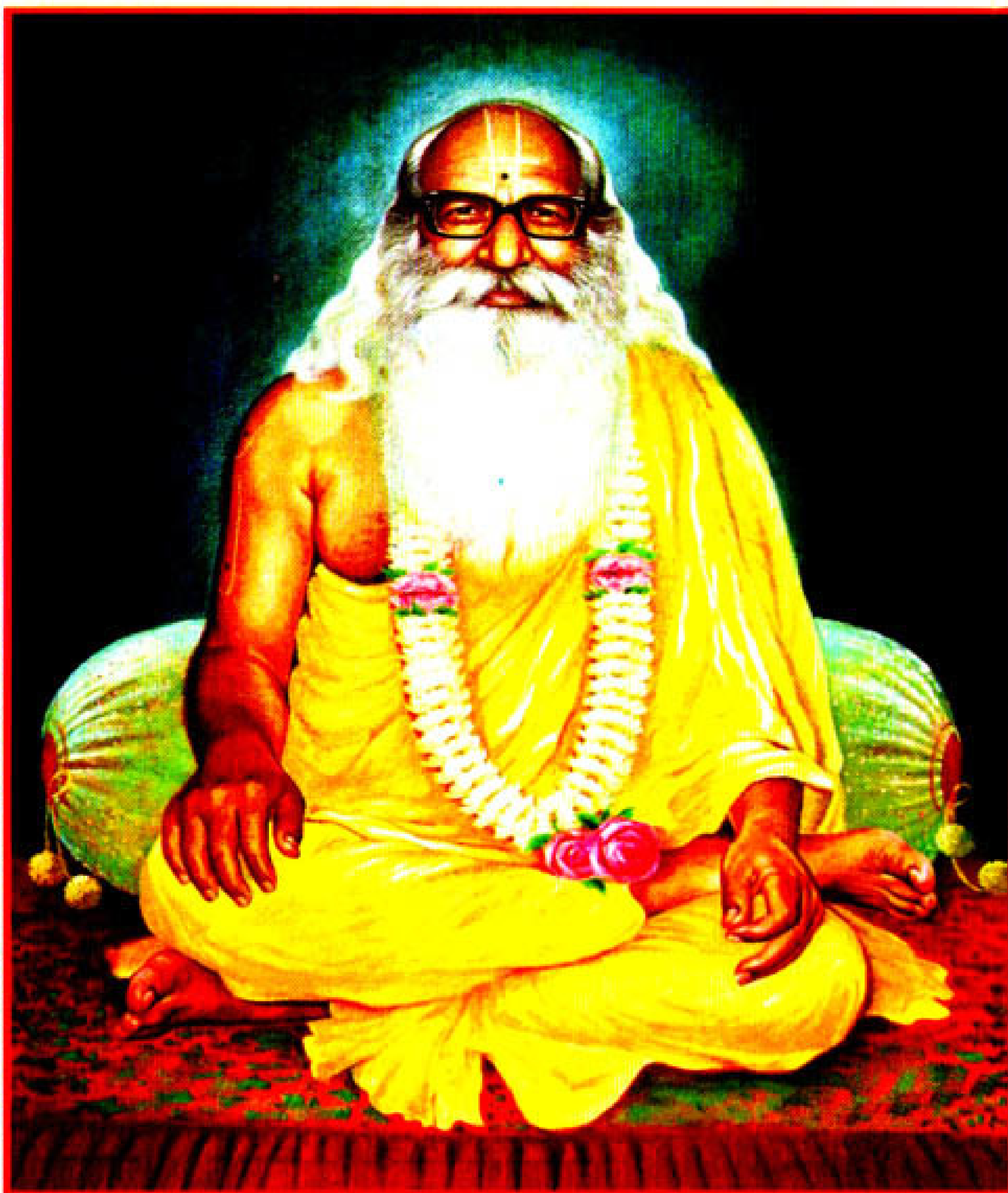
– इत्यादि

यह सब करके अन्त में मेरा विश्वास है कि इस टीका से साम्प्रदायिक साहित्य की कमी की पूर्ति तो मुझ जैसे अल्पज्ञ से क्या होगी, हाँ सेवा अवश्य हुई है। मैं नहीं समझ पाता कि इस सेवा से किसे लाभ होगा और किसे हानि ? किन्तु विचार दृष्टया यह अवश्य मालूम होता है कि इस टीका से नये जिज्ञासु को किसी न किसी रूप में सहायता अवश्य ही मिलेगी। यदि इस टीका का इतना भी उपयोग हो गया तो मानो मेरा श्रम सफल हो गया, मेरी सेवा सार्थक हो गयी। अपने इस अनधि कार पूर्ण कार्य एवं धृष्ट-चेष्टा के लिये विज्ञ सन्त एवं महानुभावों के समक्ष मैं अपराधी हूँ, अतः उन सबके पुनीत पाद पद्मों में नमन-पूर्वक क्षमा की भीख माँगता हूँ , वे अपनी उदारता में मेरी क्षुद्रता को विलीन करने का कष्ट स्वीकार करें।

—विनयावनत
हितदास

वसन्त पंचमी
संवत् २०१० विक्रम
श्रीहित रास-मण्डल,
गोविन्दघाट, वृन्दावन

हित की सरन हितदास लहि, निज भाग परसंसी कहा।



रसिक अनन्य साधु शिरोमणि

स्वामी श्री हितदास जी महाराज

टीकाकार का परिचय

श्रीहित राधावल्लभ सम्प्रदाय प्रवर्त्तक अनन्त श्री विभूषित रसिकाचार्य शिरोमणि गोस्वामी श्रीहित हरिवंशचन्द्र महाप्रभु की नाद परम्परा के जाज्वल्यमान् नक्षत्र, वृन्दावन रजोपसेवी, इष्ट-गो-सन्तसेवी साम्प्रदायिक सौहार्द की प्रतिमूर्ति रसिक अनन्य श्रीहित कृपामूर्ति परम भागवत स्वामी श्रीहितदास जी महाराज का मंगलमय प्रादुर्भाव मध्यप्रान्त के अन्तर्गत जिला मंडला मेकलसुता नर्मदा तट स्थित परम पावन 'नारा' ग्राम में भारद्वाज गोत्रीय सरयूपारीण ब्राह्मण कुल में वि. सं.१९७२ कार्तिक कृष्णा द्वितीय (सन् १९१५) में हुआ। बाल्यकाल में ही आप दिव्य गुणों से सम्पन्न विलक्षण संस्कारी बालक रहे। आपने अत्यल्प काल में ही हिन्दी वांग्मय पर पूर्ण अधिकार प्राप्तकर अपनी अद्‌भुत प्रतिभा से सबको चमत्कृत कर दिया। आपकी संस्कृत शिक्षा त्रिपुरी के समीप धवलशैल शिखरों के मध्य नर्मदा के प्रमुख जलप्रपात भेड़ा-घाट पर सम्पन्न हुई। सन् १९३६ से १९४२ तक पिंडरई में आपने अध्यापन कार्य किया परन्तु पूर्व जन्म के संस्कार आपको बारम्बार श्रीवृन्दावन धाम की ओर आकृष्ट करते रहे। इसी बीच सहसा एक दिन श्रीहित महाप्रभु ने आपको स्वप्न में निज मंत्र प्रदानकर श्रीप्रिया प्रियतम के दर्शन कराये एवं आपके मस्तक पर अपना श्रीचरण कमल पधराया। इस आकस्मिक अनुकम्पा से अभिभूत हो सन् १९४२ में अध्यापन कार्य से त्यागपत्र देकर सर्वदा के लिये अपने निज गृह, निज परिकर में आ मिले। श्रीधाम आगमन के पश्चात् लौकिक गुरु शिष्य परम्परा के निर्वाह हेतु आपने श्रीहित महाप्रभु वंशावतंश गो॰ श्रीहित वृन्दावनवल्लभ जी महाराज से शरणागत एवं कुछ ही समय पश्चात् स्वनामधन्य गो॰ श्रीजुगलवल्लभ जी महाराज से निज मंत्र प्राप्त किया। विरक्त वेष आपने सन्त शिरोमणि बाबा श्रीहित परमानन्ददास जी महाराज से ग्रहण किया।

सन् १९४५-४८ पर्यन्त आपने श्रीहित अचलविहार की बारहद्वारी में मधुकरी वृत्ति द्वारा जीवनयापन करते हुये निवास किया। सन् १९४८-५२ तक आप श्रीहित महाप्रभु की प्राकट्य स्थली श्रीबाद धाम में सेवारत रहे एवं मन्दिर का जीणोद्धार किया, पश्चात् सन् १९५५ में श्रीहितोपासना के एक सुदृढ़ केन्द्र के रूप में गान्धीमार्ग स्थित श्रीहिताश्रम सत्संग भूमि की संस्थापना की। आपने रसोपासना से सम्बन्धित अनेक संस्कृत एवं ब्रजभाषा के ग्रन्थों की रसपेशल एवं भावपूर्ण टीकाओं का प्रणयन प्रकाशन कर रसिकों एवं जिज्ञासुओं का अकथनीय उपकार किया। आपकी स्वरचित कृतियाँ 'भाव-मंजरी' एवं 'हृदयोद्गार' साहित्य जगत में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। आप अपनी विलक्षण स्मरण शक्ति, मधुर मोहिनी प्रवचन शैली एवं वाग्विदग्धता से श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देते थे। श्रीमद्राधासुधा-निधि, श्रीराधा उपसुधानिधि, श्रीबयालीस लीला एवं भक्तमाल जी के तो आप हृदय-स्पर्शी, सरस एवं मार्मिक प्रवक्ता रहे। सन्त एवं वैष्णव समाज ने अपना गौरव मानते हुए आपको चतु:सम्प्रदाय विरक्त वैष्णव परिषद् वृन्दावन का अध्यक्ष-पद प्रदान किया। सत्य एवं निष्ठा पूर्वक धर्म एवं संस्कृति के रक्षणार्थ आप जीवन के अन्तिम समय तक प्रयासरत रहे। भक्ति जगत में आपका सुयश देदीप्यमान् सूर्य की भाँति आलोकित होकर अपनी कीर्ति-पताका फहरा रहा है।

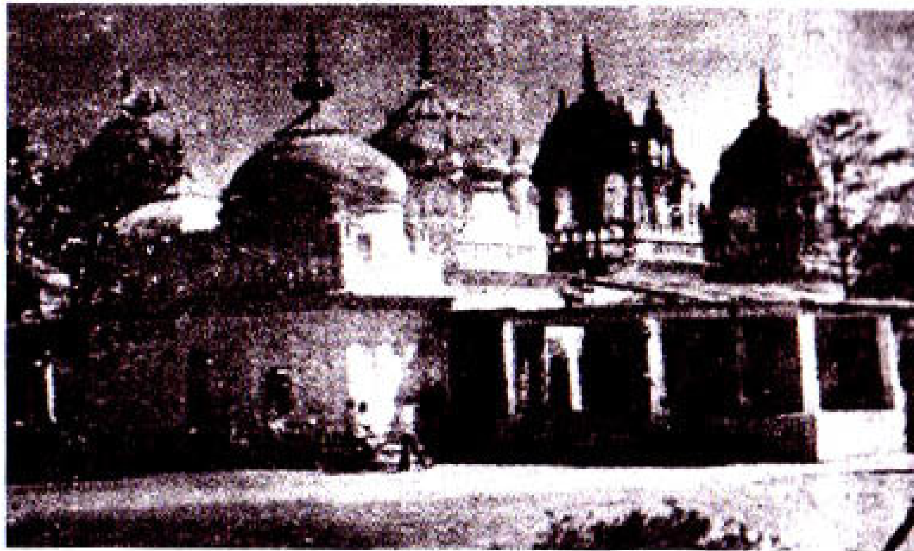
आपका प्राकृति प्रेम जीवन के संध्याकाल में पुन: आपको श्रीलाड़िलीलाल की नित्यविहार स्थली श्रीहित अचलविहार में ले आया जहाँ १० सितम्बर २००३ तदनुसार भाद्रपद पूर्णिमा संवत् २०६० साँझी लीला के प्रथम दिवस ही अपने प्राण पुष्प को लिये यह हितदासी श्रीजी की नित्य सेवा सन्निधि में सदा सर्वदा के लिये प्रस्तुत हो गई।

—हितप्रिया किंकरी

महाराज श्री की सेवक–धाम यात्रा

'गढ़ा ग्राम' श्रीसेवकजी की जन्म–भूमि है, इस नाते लेखक को इसके दर्शन की तीव्र लालसा थी। सन् १९५० ई. में जब श्रीराधा–सुधा–निधि का मुद्रण जबलपुर में किया जा रहा था, तब दो मास वहाँ निवास करने का सुयोग प्राप्त हुआ। गढ़ा जबलपुर से ५ मील की दूरी पर अवस्थित है। वर्त्तमान मध्य–प्रदेश के जबलपुर संभाग में गढ़ा नामक ग्राम जबलपुर नगर निगम का एक वार्ड है। आज से ५०० वर्ष पूर्व यह ग्राम 'गढ़ा मण्डला' के नाम से प्रख्यात नगर था। गौंड़ जाति के राजा निजामशाह हृदयशाह आदि के विस्तृत राज्य 'गौंडवाना' की राजधानी इस 'गढ़ा–मण्डला' में थी। गौंड़ राजा दलपतिशाह की महारानी दुर्गावती के शासन काल में सम्राट् अकबर के सेनापति आसफ खाँ द्वारा इस गौंड़वाने राज्य का सम्पतन हुआ और यह सम्पूर्ण राज्य मुगल साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। आज भी गढ़ा ग्राम में महारानी दुर्गावती के राजमहल एवं किले (दुर्ग) के ध्वंसावशेष देखे जा सकते हैं। प्रथम बार उस पवित्र भूमि के दर्शन का सौभाग्य मिला था। तब वहाँ शरीफे की झाड़ियों के मध्य एक बड़े से कुण्ड का दर्शन किया, जिसे वहाँ के निवासी 'राधाकुण्ड' के नाम से जानते हैं। पूछने पर कि यह कूप कब से है और क्यों राधाकुण्ड कहा जाता है? लोगों ने बताया कि इसके इतिहास से हम लोग अपरिचित हैं। राधाकुण्ड के समीप 'पंचमठा' नामक एक और स्थल है जहाँ एकत्र रूप से एक–दूसरे से मिले–जुले कई शिवालय हैं। प्रत्येक शिवालय में शिवलिंग एवं नन्दी की स्थापना तो है ही, दो–तीन शिवालायों में, सरस्वती, नर्मदा, भैरव, गंगा, सूर्य और उसके सात घोड़ों सहित रथ की भी कलात्मक मूर्तियाँ हैं। संगमरमर

पंचमठा मन्दिर



पंचमठा मन्दिर जहाँ श्री ठाकुर मुरलीधर जी
महाराज विराजमान हैं और जो लघु काशी
नव वृन्दावन के नाम से प्रसिद्ध है।

राधाकुण्ड नामक कूप



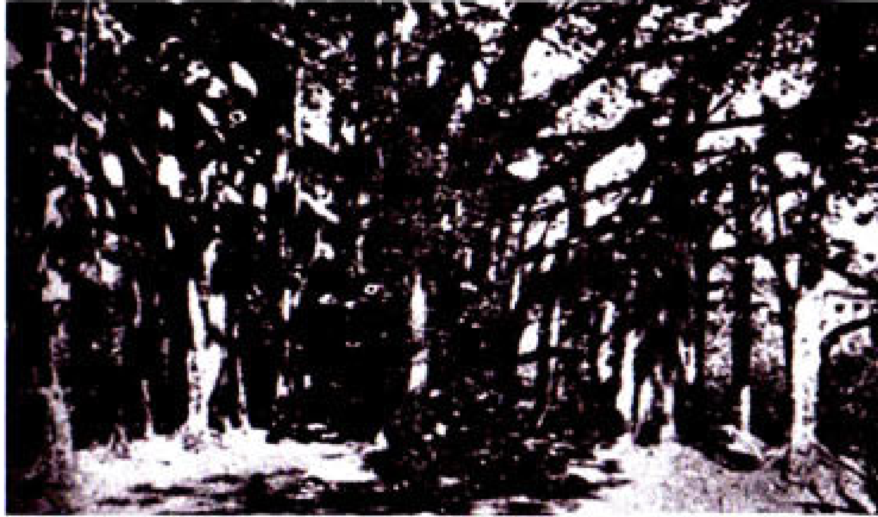
श्री हरिवंश जी महाराज द्वारा श्री सेवकजी को
श्रीवृन्दावन धाम का दर्शन कराये जाने पर
प्रगट हुआ राधाकुण्ड नामक कूप ।

या काले पत्थर से बनी ये मूर्तियाँ अत्यन्त प्राचीन तो नहीं पर ५०० वर्ष से अधिक और १००० वर्ष के भीतर की अनुमानित हैं। इन मन्दिरों के लगभग मध्य में एक और मन्दिर है जिसमें एक मुरलीधारी त्रिभंग छवि युक्त श्रीकृष्ण-मूर्त्ति है जिसकी ऊँचाई लगभग २।। फुट काले पत्थर की है। वामांग में श्रीकृष्ण की ऊँचाई से आधी अनगढ़ सी राधा की मूर्त्ति है। मन्दिर का भीतरी भाग अत्यन्त संकीर्ण और वातायन रहित है। मूर्त्तियाँ अचल रूप से प्रतिष्ठित हैं। इस मन्दिर से लगे दो मन्दिर और हैं जिनके द्वार श्रीकृष्ण मन्दिर के जगमोहन से सम्बद्ध हैं। इनमें से एक मन्दिर के द्वार पर 'लघुकाशी-वृन्दावन' उत्कीर्ण है।

गढ़ा वासी सज्जनों से वार्त्तालाप करने पर पता चला कि स्वामी चतुर्भुजदास के इष्टदेव श्रीमुरलीधर यही हैं। इनके स्वरूपानुरूप प्राचीन श्रीराधा की मूर्त्ति चोरी हो जाने पर यह नवीन राधा मूर्त्ति पीछे से विराजमान कर दी गयी। इस ऐतिह्य के प्रमाण में उन्होंने एक शिला लेख भी दिखाया जो मन्दिर के गर्भ भाग में लगा हुआ है। उसमें मन्दिर की प्रतिष्ठा का कालादि-क्रम से सम्पूर्ण विवरण है।

श्रीमुरलीधरजी के मन्दिर-द्वार के दक्षिण कोंण में गोल आकार का लगभग ९ इंच व्यास का एक पत्थर फर्श पर कुछ उठा हुआ गड़ा है। उसके सम्बन्ध में वार्त्ता करने पर श्रीजमुनाप्रसादजी दुबे, एडवोकेट ने बताया कि यह मन्दिर पूर्व में कभी गढ़ा राज्य के राजाओं की इष्टदेवी काली का मन्दिर था, नाभाकृत भक्तमाल में स्वामी चतुर्भुजदास जी की कथा आती है कि उन्होंने देवी को शिष्य बनाया था और उसे मन्दिर से निकालकर वहाँ श्रीमुरलीधर की स्थापना की थी। यह घटना इसी मन्दिर की है। यह जो पाषाण खण्ड यहाँ गाड़ा गया था अधिक सम्भव क्या निश्चित सा ही है कि भद्रकाली को जो पशु बलि दी जाती रही

वट वृक्ष



वह विशाल वट वृक्ष जिसके नीचे बैठकर अनशन
व्रतधारी श्री सेवकजी महाराज ने श्री हरिवंश
महाप्रभु का साक्षात्कार किया था ।

जमुनिया नाला



गढ़ा स्थित जमुनिया नाला का एक दृश्य

है वह इसी पाषाण पर दी जाती रही होगी। अन्यथा भगवत् मन्दिर में इस पत्थर का क्या उपयोग था?

बाबू श्रीजमुनाप्रसादजी दुबे बड़े ही धर्मप्राण सन्त-सेवी सज्जन हैं। इनके सत्प्रयास से पंचमठा का जीर्णोद्धार सम्भव हुआ। मैंने सन् १९५० में जब पंचमठा और श्रीमुरलीधर का दर्शन किया था, तब यहाँ सेवा-पूजा की कोई व्यवस्था नहीं थी। यहाँ तक कि मन्दिर में कपाट तक नहीं थे। वानर और अन्यान्य पशु-पक्षी अबाध गति से अपना व्यवहार करते रहते थे। कतिपय देहाती लोग यहाँ बैठते, खेलते और अनर्गल क्रिया-कलाप करते थे। श्रीबाबूजी के सत्प्रयास से ही पंचमठा ट्रस्ट की विधिवत् स्थापना होकर सेवा-पूजा की व्यवस्था बनी।

पंचमठा के मुरलीधर मन्दिर के समीप खुदाई करने पर एक कुँआ मिला है जिसमें कुछ पुराने स्मृति चिह्न भी मिले हैं। वे अद्यावधि सुरक्षित रखे हुए हैं।

गढ़ा में अनेकों कुण्ड और विशाल-विशाल ताल हैं। पंचमठा मन्दिर गंगा सागर नामक ताल के तट पर अवस्थित है। पंचमठा के एक भाग में एक छोटी सी नदी जिसे आञ्चलिक भाषा में नाला भी कहा जाता है, प्रवाहित थी। वर्षा और शीतकाल में उसमें जल रहता है, ग्रीष्मकाल में सूख जाता है। इस नाले को जमुनियाँ नाला कहा जाता है। यह 'जमुनियाँ' शब्द यमुना का अपभ्रंश शब्द एवं लघुता सूचक है।

लघुकाशी-नव वृन्दावन, जमुनियाँ नाला, राधाकुण्ड ये सभी नाम वृन्दावन से सम्बन्धित हैं। श्रीसेवक दामोदर दास को गोस्वामी श्रीहित हरिवंशजी महाराज ने गढ़ा में ही श्रीवृन्दावन दर्शन कराया था, ऐसा वर्णन रसिक अनन्य माल में आता है। तदनुसार अनुमान होता है कि वही सब प्रतीक अवशेष आज भी किसी न किसी रूप में अवस्थित हैं।

श्री ठाकुर मुरली मनोहर जी महाराज



स्वामी श्री चतुर्भुजदास जी
के परमाराध्य
अनन्त श्री ठाकुर
मुरलीधर जी महाराज
विराजमान - पंचमठा,
गढ़ा (जबलपुर)

गंगा सागर नामक सरोवर



गंगा सागर नामक सरोवर जिसके तट पर
पंचमठा नामक स्थान स्थित है ।

जिस वट-वृक्ष के नीच तीन-दिन पर्यन्त अनशन व्रतधारी सेवकजी ने बैठकर श्रीहरिवंशजी का भजन किया था और श्रीहरिवंशजी का साक्षात्कार किया था, वह वट-वृक्ष पंचमठा के अत्यन्त समीप आज भी अवस्थित है।

यहीं पंचमठा में एक और अत्यन्त प्रचीन मन्दिर अवस्थित है जिसमें गौर-श्याम युगल मूर्तियाँ विराजमान् हैं। मूर्त्तियाँ बहुत सुन्दर हैं। मन्दिर पुराना और जीर्ण-शीर्ण हो गया है, व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त है। सेवा-पूजा का कोई प्रबन्ध नहीं है। किन्तु मन्दिर की प्राचीनता को देखते हुए अनुमान होता है कि हो न हो यह स्थल श्रीदामोदरदास सेवकजी से सम्बन्धित रहा होगा। इसमें विराजमान् युगल श्रीसेवक-सेव्य हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

अस्तु, पंचमठा और गढ़ा की यह पावन भूमि अपने गर्भ में महान् और पुनीत राधावल्लभीय इतिहास को छिपाये, सुप्तावस्था का आनन्द ले रही है। सम्प्रदाय के अथवा प्राचीन इतिहास के अध्येताओं एवं शोधार्थी समुदाय की प्रतीक्षा कर रही है। विश्वास है कि इस दिशा में शोध-प्रयास करने पर अवश्य ऐसी सामग्री मिलेगी जो श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय के मंजुल इतिहास को अधिकाधिक गौरव प्रदान करेगी।

—स्वामी हितदास



॥श्रीहित राधावल्लभो जयति॥
॥ श्रीहित हरिवंश चन्द्रो जयति ॥

इष्ट-वन्दना

श्रृङ्गार रस माधुर्य्य सार सर्वस्व विग्रहे!
नमो नमो जगद्वन्द्ये वृन्दावन महेश्वरी ।।

''हे श्रृङ्गार, रस एवं माधुर्य की एकमात्र सर्वस्व सार मूर्ति ! हे विश्व वन्द्ये ! हे वृन्दावन की महा महिम स्वामिनि !! आपके चरणों में बारम्बार नमन है।''

आपका ही जैसा तैसा
हितदास

श्री राधावल्लभ भजत भजि भली-भली सब होय



निभृत निकुंज विलासी श्री हितलाड़िले
ठा० श्री राधावल्लभ लाल जू

श्रीहित सेवक जू कौ मंगल

जै जै श्रीहरिवंश धर्म उद्दित कर्‍यौ।
नीरस जग कियौ सरस अमित करुना ढर्‍यौ।।
जौं नहिं होतौ जनम जगत हित नंद कौ।
को करतौ जग प्रचुर प्रेम रस-कंद कौ।।
कंद रस कौ विपिन दंपति नित्य केलि कही भली।
वेद मग पग ठेलि सरिता अगम रस की ढुरि चली।।
धनि विसद वारिधि हृदय सेवक जहाँ रस नित भर्‍यौ।
जै जै श्रीहरिवंश धर्म उद्दित कर्‍यौ।।१।।

जै दामोदर सुमति सार श्रुति उर धर्‍यौ।
श्रीगुरु हित हरिवंश इष्ट गुरु इक कर्‍यौ।।
अनुरागी आसक्ति रटन संतत करी।
धरी हृदय दृढ़ टेक खरी ममता भरी।।
भरी ममता भाव की माधुर्य रस की पुट दियैं।
जपत श्रीहरिवंश रसना प्रान तन मन इक कियैं।।
धन्य प्रेमासक्ति जेहिं हित कौ हियौ सर्वसु हर्‍यौ।
जै दामोदर सुमति सार श्रुति उर धर्‍यौ।।२।।

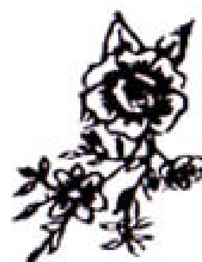
जै श्रीसेवक सुहृद कृपा हित पूर्णिमा।
लोक वेद विधि आदि किये जिन चूर्णिमा।।
श्रीहित कृपा सु दत्त प्रगट बानी भई।
कै हित ही स्वयमेव वचन वपु निरमई।।

निर्मयी हित मूर्त्ति तासौं तहाँ हित ही पाइयौ।
निकट बानी स्याम स्यामा भेद आपु बताइयौ।।
बानी जुगल बन सहचरी बानी सुरस की ऊर्म्मिमा।
जै श्रीसेवक सुहृद कृपा हित पूर्णिमा।।३।।

जै जै श्रीसेवक सकृत सकल धर्मिनु-मनीं।
तुव प्रसाद हित मिलैं दासि नागरि भनीं।।
हित दुलरावन छद्म वेष मम स्वामिनी।
दरसावन रस-पंथ रसिक-मनि भामिनी।।

भामिनी बिनु कौन समरथ हित जथा बिधि कहि सकै।
कौन तिन की कृपा बिनु हित कौं जथा विधि लहि सकै।।
हित दास ह्वै रस विलसिये सेवक कृपा लहि इक कनी।
जै जै श्री सेवक सकृत सकल धर्मिनु-मनीं।।४।।

।। जै जै श्रीहरिवंश ।।



॥ श्रीहित हरिवंशचन्द्रो जयति ॥

श्रीहित सेवकजी का जीवन चरित्र

अतिसै गिरा गँभीर भाव-दह पैठि न आवै।
नाम रूप रस वेहद कोऊ पार न पावै॥
अक्षर अर्थ समुझिवैं बहु कोविद जन दहलैं।
पुनि ए रसिक सुजान रीझि कुंजर ज्यौं चहलैं॥
निजु वेद हृदौ ज्यौं प्रभु लखहिं अरु सब थकित विचार करि।
सेवक सम सेवक न जग हरिवंश-रूप दरसे जु हरि॥

—चाचा हित वृन्दावनदासजी

दर्शक लोग सुरम्य वाटिकाओं के विकसित पुष्पों का दर्शन कर प्रसन्न हो उठते हैं। उन पुष्पों की श्री-सम्पत्ति इसीलिये है कि वह दर्शक-वर्ग को आनन्दित करे। यह दूसरी बात है कि वाटिका के सब पुष्प सुगन्धित, सुकोमल और सुन्दर न हों पर वे सभी अपने-अपने क्षेत्र में उपयोगी अवश्य हैं।

कभी कभी इसके विपरीति भी एक स्थिति पाई-देखी जाती है। गहन अरण्य में कितने फूल नहीं खिलते, पर कौन उन्हें देखने जाता है? किसे पता है कब और कहाँ कौनसा फूल खिल गया और कौनसा मुरझा गया? उसका जीवन कितने दिनों का-कितने क्षणों का होकर बीत गया? उसके आगत यौवन, प्राप्त अस्तित्व और व्यतीत व्यक्तित्व का किसीको पता तक न चल पाया। चाहे भले ही उसकी श्री ने समस्त वन को सौरभ और शुषमा प्रदान की हो, उसका दान इतना गोप्य होता है कि उसे और उसके दान को सभ्य नागरिक जान-पहचान तक नहीं पाते। न जानें, किन्तु उसके दान का भोग अवश्य करते हैं।

मक्षिकाओं के मधु को सब खाते हैं, सब चखते हैं पर किसे पता है किन पुष्पों ने अपना हृदय सर्वस्व रस निचोड़कर यह मधुर मधु हमें दिया है? कितना महान् त्याग है उस वन-वासी सुमन के जीवन में?

ऐसे त्याग का महत्व तो हम जैसे प्रतिष्ठा-लोलुप लोग आँकते हैं किन्तु जिन्हें उस प्रतिष्ठा से प्यार नहीं अपितु घोर घृणा है, वे वीतराग महापुरुष कब सोचा करते हैं, विश्व वाटिका में विकसित होने की बात? उन्हें मानवों के शिष्टाचार पूर्ण धन्यवाद की इच्छा नहीं है। वे विकसित होंगे पर कानन में, सौरभ और श्री बखेरेंगे पर कानन में। मधु-मक्षिका की तरह कोई रसिक जाय और उनकी सम्पत्ति-मधुर मधु को सञ्चित कर ले। फिर चाहे उस सञ्चय का उपभोग कोई करे, वे इससे बे-परवाह हैं।

हम यहाँ एक ऐसे ही वन्य-पुष्प की भाँति प्रच्छन्न महापुरुष का चरित्र-चित्रण करने बैठे हैं जो भूतल पर आये और थोड़े से समय में अपना सम्पूर्ण एवं महान् कार्य करके चले गये। इतनी शीघ्रता की उन्होंने कि किसी ने यदि जाना-पहचाना, तो किसी ने पता तक न पाया उनका। इन महापुरुष का नाम है श्रीदामोदरदास – सेवकजी महाराज।

अस्तु, वर्त्तमान् समय में प्रत्येक पढ़ा-लिखा व्यक्ति मध्य-प्रान्त से परिचित है। इस मध्य-प्रान्त का पूर्वोत्तर भाग पहले 'गोंडवाना' के नाम से प्रसिद्ध था। गोंडवाने की राजधानी 'गढ़ मण्डल' या 'गढ़ा-मण्डला' थी। इतिहास प्रसिद्ध वीराङ्गना रानी दुर्गावती इसी गढ़ा-मण्डला की रानी थीं। उस समय गढ़ा-मण्डला का परगना बहुत विस्तृत था, जिसका मुख्य नगर यह गढ़ा था जो वर्त्तमान जबलपुर शहर से पाँच मील दूरी पर पुण्य सलिला भगवती रेवा के पावन प्रान्त में अवस्थित है। अब तो यह अपने प्राचीन खण्डहरों को गोद में लिये एक ग्राम के रूप में शोभा दे रहा है।

हमारे चरित्र–नायक इसी गढ़ा ग्राम में सम्वत् १५७५ वि. की श्रावण–शुक्ल–तृतीया को एक पवित्र एवं विद्वान् ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे। आपके पिता दो भाई थे। दोनों भाइयों से दो सन्तानें हुईं। बड़े भाई से चतुर्भुजदास और छोटे से श्रीदामोदर दास। दोनों बालक होनहार, मेधावी और सुन्दर थे। स्वाभाविक ही सबका चित्त चुरा लेते थे। बचपन में ही दोनों भाइयों की पारस्परिक सहज प्रीति हो गयी जो अन्त तक पूर्णतया निभती गयी। ऐसी सुयोग्य सन्तान को पाकर ब्राह्मण भ्राताओं ने उनके अध्ययन–अध्यापन में कोई कोर कसर नहीं रखी, फलतः न कुछ सोलह सत्रह वर्ष की आयु में ही दोनों ब्राह्मण कुमार भक्ति–शास्त्रों के अच्छे पण्डित हो गये। विद्या के साथ ही साथ इनके भक्ति–भाव की भी अभिवृद्धि हुई, जिससे इनकी ख्याति भी काफी हुई।

समय बीतता गया और एक ऐसा समय आया जबकि दोनों के पिता क्रमशः एक एक करके परमधाम वासी हो गये। विधि का विधान और संसार की गति के ज्ञाता चतुर्भुजदास एवं दामोदर दास पर इसका उल्टा ही प्रभाव पड़ा, वे संसार से और भी विरक्त होकर निरन्तर भजन पूजन, कथा कीर्त्तन में ही अपना सारा समय बिताने लगे। अब साधु सङ्ग और भगवत भजन ही उनका एकमात्र आधार था।

अस्तु, हम जिन दिनों की बात कर रहे हैं, उन दिनों न तो रेल गाड़ी थी और न डाक–चिट्ठी–पत्री–लाने ले जाने के कोई विशेष साधन ही। पत्र–पत्रिकाओं का प्रचार तो अब हुआ है। उन दिनों धर्म का प्रचार करने के लिये आचार्य एवं सन्त महात्मा–गण अपने साथ बहुत से सन्तों को लेकर – जमात बनाकर स्वतंत्र भाव से यहाँ–वहाँ विचरण किया करते थे। उन सन्तों के ही उपदेश से लोगों में जागृति होती और जिज्ञासु–जन

बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुये उस उपदेश का अपने जीवन में उपयोग करते। धर्म, उपदेश और सदवार्त्ता की बेकदरी और तत्त्व-उपदेशों की निरर्थकता तो इस 'अखबारी युग' ने कर रखी है।

हाँ; तो हम कह रहे थे कि उस समय धर्मोपदेशक सन्तों की मण्डलियाँ सर्वत्र घूमा करती थीं। उनमें से प्राय: अधिकांश मण्डली चतुर्भुजदास एवं दामोदरदास के यहाँ अवश्य आया करतीं, क्योंकि ये दोनों भ्राता साधु-सेवी थे। श्रीवृन्दावन की एक साधु-मण्डली ने इन भक्त भ्राताओं की प्रशंसा सुनकर इनके घर निवास किया। इन्होंने भी सन्तों की बड़ी आव-भगत की। महात्माओं को इनकी निष्ठा-प्रीति से बड़ा आनन्द मिला। प्रथम दिन जब सब भक्तगण रात्रि को अवकाश पाकर सत्सङ्ग करने बैठे तब चतुर्भुजदास ने बड़ी नम्रता पूर्वक महात्माओं से पूछा- "भगवन्! हमने कितने ही महात्माओं के श्रीमुख से आचार्यपाद गोस्वामी श्रीहित हरिवंशचन्द्र जी महाराज के सम्बन्ध में उनकी प्रशंसा की अनेक बातें सुनी हैं। वे हमें अत्यन्त प्रिय लगती हैं यदि आप भी कुछ जानते हों, तो कृपया सुनावें, दया होगी। हमने यह भी सुना है कि वे वंशी के अवतार हैं, आपके श्रीमुख से इस विषय के सुनने की बड़ी लालसा है।"

आचार्य-चरणों में दोनों भाइयों की इस सहज प्रीति का स्मरण करके महात्माओं की आँखों में प्रेम-जल छलक आया। अब एक वृद्ध से सन्त ने कहना आरम्भ किया। वे बोले-- "भाई! तुम दोनों बड़े भाग्यवान् हो, जो श्रीवन से इतनी दूर रहकर भी श्रीमहाप्रभुपाद का पावन नाम तुम्हारे कानों तक आया। हम भला उनके सम्बन्ध में क्या कह सकते हैं? जो कहें वही थोड़ा है। तुमने जो जो कुछ सुन रखा है वह सब ठीक है — परम सत्य है। उनकी महिमा का अनुभव तो उनके प्रत्यक्ष दर्शन करने से ही विदित होगा।"

वृद्ध संत श्रीनवलदास जी की बात सुनकर दोनों भाइयों का भी हृदय प्रेमानन्द से भर गया। शरीर पुलकित हो गये। कंठ गद्गद् हो गये। गद्गद् कण्ठ से ही दामोदरदास ने कहा– "प्रभो ! जिनकी महिमा इतनी विशाल है और जो प्रत्यक्ष रूप से इस धरा-धाम पर इस समय विराजमान् हैं, अब तक हमें उनका दर्शन भी प्राप्त न हो सका, भला कितने अभागे हैं हम ? चित्त तो यही चाहता है कि शीघ्र से शीघ्र चलकर उन श्रीचरणों की अभय शरण ग्रहण कर लें किन्तु इस मिथ्या जगजञ्जाल से हमारा छुटकारा होकर हम वहाँ पहुँच सकें, ऐसा कब होगा ? यह तो बताइये कि क्या प्रभु हम जैसे अधमों को भी अपनी पावन चरण-शरण देंगे ?"

दामोदरदास जी की इस दीनतापूर्ण प्रेम-वलित वाणी को सुनकर महात्माओं ने एक अनिर्वचनीय सुख का अनुभव किया और धैर्य युक्त सान्त्वना देते हुए उन्हीं वृद्ध संत ने समझाया– "अरे ! तुम कह क्या रहे हो? ऐसा न कहना चाहिये। वे तो अशरण-शरण हैं। जिन्होंने कृपा पूर्वक मुझ जैसे महापापी को अपनी अभय शरण में रख लिया, तब दूसरों की क्या बात है ? तुम तो प्रभु के प्रिय पात्र हो, साधु-हृदय और भक्त हो, नम्र, विवेकी और विनयी हो, सत्यवादी हो, उदार हो और जाने कितने ही गुणों के भण्डार हो। तुम तो उनके ही मानों निज-जन हो। तुम्हें अपने मुख से ऐसी बात शोभा नहीं देती। यदि तुम्हारे मन में उनकी चरण-शरण ग्रहण करने की अभिलाषा है, तो मेरी भी सलाह है कि शीघ्र श्रीवन के लिये प्रस्थान करो। शुभस्य शीघ्रम् – अच्छे काम में विलम्ब न करना चाहिये।"

दोनों भ्राताओं ने वृद्ध संत के चरणों में सिर रखते हुए बड़े हर्ष-पूर्वक उनकी बात स्वीकार की। तदुपरान्त बहुत रात्रि तक उनमें श्रीकृष्ण-चर्चा होती रही। सारी रात बात की बात में बीत गयी। प्रातःकाल

नित्य-क्रिया से निवृत्त होकर महात्मागण तो कहीं अन्यत्र विचर गये और इधर चतुर्भुजदास एवं दामोदरदास श्रीवृन्दावन जाने की तैयारी करने लगे।

बाल-ब्रह्मचारी दामोदरदास के लिये तैयारी ही क्या थी ? चतुर्भुजदास ने भी बड़ी शीघ्रता से अपने स्त्री बच्चों का प्रबन्ध कर दिया। अब तब चलने को तैयार ही थे कि अकस्मात् एक ऐसी आपत्ति आ पड़ी कि दोनों को विवशता-पूर्वक तीन माह के लिये और रुक जाना पड़ा। बड़ी कठिनाई से तीन माह बिताकर दोनों चलने को तैयार हुए ही थे, कि उनके यहाँ वृन्दावन के साधुओं की एक मण्डली और आयी। उनसे भी दोनों भाइयों की भेंट हुई, वे सभी संत इनके यहाँ ठहर गये।

कहते हैं, प्रेमी सर्वत्र अपनी प्रिय वस्तु को ही ढूँढ़ा करता है। वह हर किसी से उसका पता पूछता है। गोपियों ने महारास में अंतर्धान हुए श्रीकृष्ण- अपने प्रियतम का पता वृक्ष-लता, पशु-पक्षी और पृथ्वी तक से पूछा था। क्यों न हो ? यही तो प्रेम की महत्ता है, स्वभाव है। दोनों भक्त-बन्धुओं से न रहा गया, उन्होंने भी वृन्दावन के महात्माओं से अपने पूज्य गुरुदेव के सम्बन्ध में पूछा- ''भगवन् ! आप लोग श्रीवन से आ रहे हैं, अतः श्रीहित हरिवंशचन्द्र महाप्रभु के सम्बन्ध में अवश्य कुछ न कुछ जानते ही होंगे, इस समय वे अपने प्रेमी रसिक भक्तों के साथ किन-लीलाओं का आनन्द विस्तार कर रहे हैं ?''

इनकी बात सुनकर भक्तों ने एक गहरी लम्बी दुःखभरी साँस ली और अपनी-अपनी ग्रीवा नीची करके चुप हो रहे, किसी से कुछ कहा न गया। अनेकों के नेत्रों से टप-टप आँसू भी टपक पड़े। साधुओं की यह दशा देखकर इन दोनों ने फिर पूछा- ''प्रभो ! आखिर इस दुःख का कारण क्या है ? स्पष्ट कहिये, आपके दुःख से हमारे हृदय में असम्भाविक पीड़ा सी हो रही है। सर्वत्र मंगल तो है न ?''

उन साधुओं में अग्रणी संत ने बड़े दुःख भरे स्वर में कातर वाणी से कहा– ''पुत्रो ! मंगल की क्या बात कहें ? अब तो हमारे लिये सम्पूर्ण पृथ्वी अमंगल मयी बन गयी है। हृदय में जो दुःख था, उसे हम किसी प्रकार वहन कर रहे थे पर अब जो उस दुःख की करुण–चर्चा करने का अवसर आया है उसे अपना कौनसा दुर्भाग्य कहें। क्या हमीं आपको ऐसे अमंगल सन्देश देने के लिये विधाता की ओर से नियत किये गये थे? यदि हमारे भाग्य में यही है तो कहना ही पड़ेगा। पृथ्वी का मंगल–सौभाग्य लुट गया, वृन्दावन सूना हो गया। रसिक सभा का श्रृंगार उजड़ गया, भक्त अनाथ हो गये। तुम्हारी अभिलाषाएँ भी अधूरी रह गयीं। आचार्य पाद अपनी लीला संवरण करके चले गये।''

संत अपनी बात पूरी भी न कर पाये थे कि दोनों भाई कटे वृक्ष की भाँति पृथ्वी पर मूर्च्छित होकर गिर पड़े। उनकी विरह दशा देखकर भक्तों में हाहाकार मच गया। सभी जारों से रुदन करने लगे। कोई दो घड़ी तक वहाँ शोक का साम्राज्य छाया रहा। साधुओं के अनेक उपचार करने पर दोनों भाइयों को शरीर का बोध हुआ; तब भी उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित थी। वे चाहते हुए भी बोल नहीं सकते थे; उनकी वाणी अविरुद्ध थी। भक्तों के ढांढ़स देने और समझाने पर उनकी वाणी खुली और वे विलाप करते हुए ''हा हरिवंश ! हा हरिवंश !! कह कह कर जोरों से रुदन करने लगे। इनका रोदन सुनकर उस समय पत्थर भी पसीज गये। एकबार फिर सब समाज करुणा रस के विस्तृत समुद्र में डूब उतरा रहा था। साधुओं ने अनेक कथा–उपदेशों से इनके चित्त को धैर्य बँधाया, तब कहीं ये कुछ–कुछ शान्त हुए। सारा दिन और सारी रात शोकाकुल अवस्था में ही बीती। किसी ने कुछ खाया–पिया तक नहीं। दूसरे दिन समस्त महात्मा–गण अपना अपना सम्मान पाकर चले गये। इधर इन्होंने विचार किया कि अब हम लोगों के लिये क्या कर्त्तव्य है? श्रीवन चलें तो क्यों

और दीक्षा लें तो किससे? इस पर चतुर्भुजदास जी ने अपनी यथोचित राय प्रकट की कि यदि आचार्य चरण नित्य-धाम में प्रवेश कर चुके हैं तो श्रीवन चलकर उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीवनचन्द्र जी महाराज से ही वैष्णवी-दीक्षा मंत्र ग्रहण करना चाहिये,क्योंकि श्रुति-शास्त्र भी इसी बात को प्रमाणित करते हैं कि ''आत्मा वै जायते पुत्र:'' पिता की आत्मा ही पुत्र के रूप अवतरित होती है। ऐसी दशा में हमारे लिये इसके सिवाय और चारा ही क्या है ?

अपने बड़े भ्राता की बात का उत्तर देते हुए दामोदरदास जी ने कहा- ''दादा ! आपने जो कहा वह अक्षरश: सत्य है, शास्त्रानुमोदित है किन्तु मेरा चित्त-चंचरीक तो केवल श्रीहित-हरिवंश-चरण-कमलों पर ही आसक्त है, इसके लिये अन्य गति ही नहीं है अतएव मैं तो उन्हें ही प्राप्त करने का प्रयत्न करूँगा। उन्ही से दीक्षा लूँगा, मंत्र लूँगा और अपनी इच्छाएँ पूर्ण करूँगा अथवा अपने इस अधम शरीर को उनके वियोग में त्याग दूँगा। आप चाहें तो भले ही वृन्दावन जायें पर मेरे लिये आग्रह न करें। मैंने उनकी जो महिमा सुनी है उसे सत्य रूप में देखूँगा, तभी मुझे शान्ति होगी। मैं यहीं बैठकर उन्हें पा लूँगा, मेरा ऐसा अटल विश्वास है।''

चतुर्भुजदास जी अपने छोटे भाई के स्वभाव को जानते थे। वे निरुत्तर हो गये और उन्होंने कोई आग्रह भी नहीं किया वरं स्वयं अकेले श्रीवन को चलने को तैयार हो गये।

इधर दामोदरदास जी अपने घर से बाहर निकल कर एक अश्वत्थ वृक्ष की छाया में खड़े होकर बोले- ''आज मैं श्रीहित पाद-पद्मों की प्राप्ति के लिये एक कठोर आमरण व्रत ग्रहण करता हूँ। मैं सत्य-सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि उन्हें प्राप्त करके ही अपने आसन से उठूँगा और अन्न जल ग्रहण करूँगा। यदि यह सत्य है कि श्रीहिताचार्य-चरण

श्रीकृष्ण की महामोहिनी वंशी हैं, वे जीवों का कल्याण करने के लिये अवतरित हुए थे तो मुझ पर भी कृपा करें। यदि मेरा उन चरणों में सत्य और अनन्य अनुराग है, तो वे मेरे भाव की रक्षा करें। यदि आज से नवें दिन तक उनका दर्शन मुझे न होगा तो मैं अपना शरीर अग्नि में जला कर भस्म कर दूँगा। मैं जिन चरणों में अपना सर्वस्व समर्पित कर चुका हूँ वे कृपालु प्रभु इस दीन दास-सेवक पर अनुग्रह करें इसके सिवाय मेरे चित्त में और कोई अभिलाषा नहीं है। मेरी सत्य प्रतिज्ञा के साक्षी सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र, तारागण, देवता, ऋषि, महर्षि, मनुष्य, पशु-पक्षी सभी लोग इसे ध्यान पूर्वक श्रवण करें।''

इतना कहकर दृढ़व्रती दामोदरदास वहीं आसन लगाकर बैठ गये और ''श्रीहरिवंश श्रीहरिवंश'' की रट में तल्लीन हो गये। इधर चतुर्भुज दास अपनी लगन में पागल हुए श्रीवृन्दावन के लिये चल पड़े।

एक, दो तीन क्रमशः आठ दिन व्यतीत हो गये। नवाँ सूर्योदय हुआ किन्तु दामोदरदास के विश्वास, लगन और उत्साह में जरा भी शिथिलता न थी वे अपने कार्य में पूर्णतया तत्पर थे। आज उन्हें भजन के बीच-बीच में न जाने क्यों एक विचित्र तन्द्रा का सा अनुभव होता था। वे प्रयत्न-पूर्वक उसे हटाते पर ज्यों-ज्यों हटाते त्यों-त्यों तन्द्रा गाढ़ होती जा रही थी। उन्होंने तन्द्रा में देखा- मेरी आँखों के सामने दिव्य-वारिमयी यमुना बह रही है, लता-द्रुम-मण्डित वृन्दावन शोभा पा रहा है। उन्होंने इसे अपनी भावना का मूर्त्त-रूप – भ्रम समझा और अपनी आँखें मींच लीं, किन्तु ध्यान में भी वही दृश्य। उन्होंने फिर आँखें खोल दीं तब भी वही दृश्य। अब दृश्य गाढ़ हो रहा था। उन्होंने यह भी देखा- सामने प्रौढ़ आयु सम्पन्न कोई गौर महापुरुष खड़े हैं। उनके कांतिमय देह पर पीत वस्त्र शोभा पा रहे हैं। मुख मण्डल के चारों ओर दिव्य महा ज्योति जगमगा

रही है। वे अपने कृपा-पूर्ण नेत्रों से प्रेम की वर्षा कर रहे हैं। उनकी मुसकान में अनन्त पवित्रता और आकर्षण का रस है।

यह सब देखकर सेवक-दामोदरदास आनन्द-पुलकित हो गये। तब तक वे महापुरुष उनके निकट आ गये और दामोदरदास के सिर पर अपना अभय करुणा वरुणालय वरद कर-कमल रखते हुए बोले- ''प्रिय दामोदर ! प्राण-प्रिय सेवक ! उठो; मैं तुम्हें कृतार्थ करने आया हूँ। तुम्हारी निष्ठा और विश्वास ने आज मुझे यहाँ प्रकट होने के लिये विवश कर दिया। जगत् में तुम्हीं सच्चे शिष्य हो। सेवक शब्द की सार्थकता तुम्हारे ही रूप में है - अतः आज से जगत् में तुम्हारा नाम 'सेवक' ही विख्यात होगा।''

प्रभु के अमृतमय एवं कर्ण-मधुर शब्दों ने दामोदर को विह्वल कर दिया। वे आनन्दातिरेक के कारण कुछ भी न बोल सके। प्रभु के चरणों में लिपट कर वे फूट-फूट कर रोने लगे। उस समय उन्होंने अपने प्रेमाश्रुओं से प्रभु पद-कमलों का प्रक्षालन किया। करुणामय प्रभु ने सेवक को उठाकर अपने हृदय से लगा लिया और वे अत्यन्त प्यार से बार-बार उनका सिर सूँघने लगे। उस समय प्रभु के हृदय में मानों वात्सल्य-रस का समुद्र उफन रहा था। प्रभु ने कहा- ''बोलो बेटा ! क्या चाहते हो ?''

बड़ी कठिनाई से धैर्य धारण करते हुए सेवक ने कहा-''प्रभो! आपको पाकर अब और भी कुछ चाहना बाकी रह जाता है क्या ?''

प्रभु इसका उत्तर भी क्या देते ? वे निरुत्तर थे। मानों वे मौन में ही कह रहे थे कि वास्तव में मुझे पाने के उपरान्त कुछ भी शेष नहीं रह जाता किन्तु इस मर्म का ज्ञान किसे है ? इसीलिये तो कहना पड़ता है-''कुछ माँग लो।''

अब प्रभु ने प्रकट शब्दों में कहना प्रारम्भ किया। वे बोले- ''प्रिय सेवक ! तुमने मुझे जाना है पहचाना है, तुमने मुझ पर अपना

सर्वतोभावेन सर्वस्व समर्पण किया है अतएव तुम मेरे शिष्य हो, मैं तुम्हें अपना उपासना-मंत्र प्रदान करता हूँ; ऐसा कहकर प्रभु ने सेवक को उपासना मंत्र प्रदान किया। तदुपरान्त उन्होंने अपनी महती कृपा का प्रकाश करते हुए सेवक को सभी प्रकार से कृत कृत्य कर दिया। सत्य है श्रीगुरुदेव की कृपा होने पर कौनसी वस्तु अलभ्य रह जाती है। सेवक ने श्रीहरिवंशचन्द्र की शीतल कृपा के प्रकाश में देखा–

दिव्य श्रीवृन्दावन धाम। नित्य नव किशोरी गण-सेवित युगल रसिक चूड़ामणि श्रीवृन्दावनेश्वरी और वृन्दावनचन्द्र।

उन्होंने देखा– प्रेम का साकार स्वरूप। प्रेम का व्यापक स्वरूप-अपने समक्ष मूर्त्तिमान् श्रीहरिवंशचन्द्र को।

उन्होंने देखा– यह साकार प्रेम, अपनी प्रेम रश्मियों से मेरे अन्तराल को परिपूर्ण कर रहा है। स्वयं साकार होकर भी निराकार रूप में मेरे हृदय में प्रवेश किये जा रहा है।

उन्होंने देखा– वह अन्तर्धान होने को है। मैं बेसुध क्यों हुआ जा रहा हूँ।

सेवक ने अपने आपको सम्हाला। उन्होंने बड़ी अधिकारपूर्ण प्रेम-पद्धति से अपने सर्वस्व के चरण पकड़ लिये। वे उनमें लिपट गये और अस्त-व्यस्त शब्दों में अपनी कृतार्थता प्रकट करने लगे, किन्तु उनके भाव अगम्य थे।

प्रभु ने अपनी विवशता प्रकट करते हुए कहा– ''सेवक ! मुझे विदा दो।''

'विदा'! सेवक का हृदय फटने लगा। ''विदा !! एक क्षण भी तो नहीं हुआ तुम्हें आये? और विदा !! ठीक है, मैं जान गया, पार्थिव

अपार्थिव का नित्य संयोग क्यों कर हो सकता है? किन्तु भगवन् ! मुझे पार्थिव से मोह नहीं है मैं इसका त्याग कर दूँगा किन्तु अब इन प्राणों से यह वियोग न सहा जायगा।"

प्रभु ने बड़ी ही शान्त और गम्भीर मुद्रा में कहा– ''मैं जानता हूँ, असह्य होगा यह वियोग; किन्तु इसे भी सहन करना होगा। केवल मेरे लिये– प्रेम के लिये। विश्व को कुछ काल के लिये तुम्हारी आवश्यकता है। मैं तुमसे दूर कब हूँ ?''

प्रभु अन्तर्हित हो चुके थे बहुत देर पश्चात् सेवक ने जाना। यह तन्द्रा नहीं थी, स्वप्न नहीं था यह थी प्रेम देवता मेरे इष्टदेव श्रीहरिवंशचन्द्र की कृपा ! मैं धन्य हो गया, मैं कृत कृत्य हो गया।

सेवक प्रेम की मस्ती में झूम उठे। उन्हें अपने देह मन और प्राणों की भी सुधि नहीं रह गयी। उनके तन-मन और प्राणों में केवल एक ही प्रेम ज्योति क्रीड़ा कर रही थी। उनका रोम रोम पुकार रहा था– ''हरिवंश! हरिवंश !!''

अब वे प्रेम में पागल हुए अलक्षित गति से यत्र-तत्र विचरण करने लगे। जंगल, पहाड़ों, कन्दराओं और खँडहरों में उनके आनन्दमय दिवस बीतने लगे। उनके जीवन की कोई व्यवस्थित चर्या न थी, अतएव यदि उन्हें जन-साधारण 'पागल' शब्द से पुकार उठते थे तो कोई अतिशयता न थी।

अस्तु; पाठक ! सेवक अग्रज चतुर्भुजदास को भूले न होंगे वे सेवक के दृढ़ासीन होने पर श्रीवन आ गये और आचार्य श्रीवनचन्द्र ने उन्हें अपनाकर अपनी उदार जन-कृतकृत्य कारिणी दयालुता का परिचय दिया। अब चतुर्भुजदास, स्वामी श्रीचतुर्भुजदास हो चुके थे।

एक दिन स्वामी चतुर्भुजदास जी ने आचार्य-चरण से दामोदर का परिचय देते हुए उसके प्रतिज्ञाबद्ध होकर आसीन होने की बात भी कह सुनायी। जिसे सुनकर आचार्य प्रभु का नवनीत जैसा कोमल हृदय पिघलने लगा। वे दामोदर के प्रेम, उसकी लगन, पावन विश्वास और दृढ़ अनन्य भावना से मानो उस पर बिक से गये। कुछ क्षणों तक तो वे शान्त भाव से दामोदर के असीम भावपूर्ण हृदय की माप करने में संलग्न रहे किन्तु जब उसे अपने मस्तिष्क पात्र से न माप सके तब मानो थकित होकर उन्होंने एक दीर्घ-निःस्वास ली, और अत्यन्त वात्सल्य भाव से भरकर वे स्वामीजी से प्रिय दामोदर के विषय में अन्य अन्य चर्चाएँ करने लगे।

इस प्रकार कई दिनों की चर्चाओं से आचार्यपाद ने भली प्रकार से ज्ञात कर लिया कि दामोदर साधारण जीव नहीं वरं कोई दिव्य विभूति है। अब उन्होंने दामोदर के दर्शन-मिलन की इच्छा प्रकट की। अब तक स्वामी चतुर्भुजदास जी को श्रीवन आये लगभग छः मास बीत चुके थे। उनके लिये श्रीआचार्यपाद की आज्ञा हुई कि वे जाकर उनके प्रिय दामोदर का पता लगावें और दामोदर को श्रीवन लावें। तब तक संयोग की बात एक विलक्षण रीति से घटित हुई। स्वामी चतुर्भुजदास दामोदर की खोज में श्रीवन से अपनी जन्म भूमि की ओर चलकर कुछ दूर पहुँचे ही थे, तब तक किसी तीर्थ यात्री सन्त के हाथों सेवक जी ने अपनी दिव्यानुभूतिमयी प्रेम सिद्धान्त पारदर्शी वाणी आचार्यपाद के पास भेजी। वाणी का दर्शन एवं पठन करके आचार्य-चरण कितने आह्लादित हुए वर्णनातीत है। श्रीउत्तमदासजी ने उस दशा का किञ्चित् संकेत इस प्रकार किया है-

''बानी चलि वृंदावन आई। श्रीवनचंदहि अति सुखदाई॥
रीझि कही जौं वाहि निहारौं। तौ सर्वसु सेवक पर वारौं॥''

आश्चर्य है ! आचार्य ने वाणी देखकर सेवक दामोदर पर अपने इष्टदेव श्रीराधावल्लभ लाल की सम्पूर्ण सम्पत्ति न्यौछावर करने की प्रतिज्ञा कर ली। आचार्य क्यों इतने मुग्ध हो गये ? वाणी में ऐसा क्या था ? श्री भगवत मुदितजी लिखते हैं–

''बानी में गुरु हरि सम राखे। बानी बाल चरित सब भाखे।।
बानी में गुरु बानी भाव। गुरु-बानी कौ बरन्यौ चाव।।
सेवक-बानी में रस-रीति। रसिक अनन्यनि की परतीति।।
बानी में सर्वसु हरिवंस। बानी माँहि प्रेम के गंस।।
बानी में हरिवंस प्रताप। बानी में हित कौ जस-जाप।।
बानी रसिक अनन्यता बरनी। धर्मी-धर्म रीति मन हरनी।।
कृपा - अकृपा पात्र सब कहे। काचे पाके रसिक जु लहे।।
बानी में विधि नाहिं निषेध। बरने अवतारनि के भेद।।
जाति बरन कुल कौ व्यवहार। सब तजि कह्यौ धर्म हित सार।।
ग्रह नक्षत्र दिन कुदिन न जानैं। श्रीहरिवंस धर्म ही मानैं।।
रसिक अनन्य धर्म निजु सार। 'सेवक बानी' में निरधार।।''

वास्तव में वाणी क्या थी, राधावल्लभीय प्रेम-सिद्धान्त की दिव्य मूर्त्ति थी; इसीलिये आचार्य श्रीवनचन्द्रजी ने प्रतिज्ञा की–

जा दिन सेवक कौं लखि पाऊँ।
तौ हौं सब भंडार लुटाऊँ।।

– श्रीभगवत मुदित

अब तो आचार्य श्रीवनचन्द्र प्रभुपाद के मन में सेवक के दर्शन मिलन की तीव्र उत्कण्ठा जाग उठी थी, वे अहर्निश सेवक की ही बाट देखा करते थे।

इधर स्वामी चतुर्भुजदास तीन मास की यात्रा करके गढ़ा ग्राम – अपनी जन्म भूमि जाकर अपने प्रिय दामोदर सेवक का पता लगाने लगे।

वे हर किसी से अपने प्रिय दामोदर का समाचार–पता पूछते, किन्तु कोई ठीक–ठीक बताता ही न था। जो कहता वह यही कहता– हमें क्या पता बाबा ! तुम्हारा दामोदर कौन है और कहाँ है ?

अन्त में, किसी एक वृद्ध ग्रामीण ने बताया "बाबा जी! हम यह तो नहीं कह सकते कि जिसे आप पूछ रहे हैं, वह वही व्यक्ति है, किन्तु कुछ दिनों से हमारे इन ग्रामों में एक विक्षिप्त सा युवक घूमा फिरा करता है। है तो वह पागल ही किन्तु उसे हम संसार के अन्य पागलों की तरह पागल भी नहीं कह सकते। उसकी प्राय: सभी दैनिक क्रियायें उचिततया ही सम्पन्न होती हैं किन्तु न तो वह किसी से बातें ही करता, न कुछ खाने पीने को ही माँगता है। मन आता गाने लगता है, मन आता रोने लगता है। कभी अपने आप ही अकेला बातें करता है और कभी जोर से खिल खिला कर हँसने लग जाता है। सोना तो वह मानो जानता ही नहीं। जब देखो तब इधर–उधर घूमता ही दीखता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि दिन रात निरन्तर उसके मुँह से निकले 'श्रीहरिवंश !' "हा हरिवंश!!" बस यही शब्द; हर दिशाओं में गूँजते रहते हैं। क्या कहें महाराज ! उसके 'हरिवंश' शब्द में कितनी मिठास है, जब वह 'हा हरिवंश' कहता है, तो ऐसा लगता है मानों वह अपने हृदय का समस्त माधुर्य उँड़ेले दे रहा है और उस माधुर्य से हमारे तन–मन–प्राण परितृप्त हुए जा रहे हैं।"

"बाबा जी! यद्यपि वह 'हरिवंश' का प्रेमी सा जान पड़ता है पर हमारी समझ में तो उसे इस हरिवंश की एक बला सी लग गयी है। जाने यह हरिवंश क्या मुसीबत है, जो उस बेचारे को खाने–पीने और आराम

से सोने तक नहीं देती। उसे जरा भी चैन नहीं है। हम सत्य कहते हैं, हमें तो उस बेचारे पर तरस आता है और उस हरिवंश पर क्रोध। किन्तु करें क्या? हमारा कोई बस भी तो नहीं चलता, उन दोनों पर।

उस वृद्ध ग्रामीण की बातों पर से स्वामी चतुर्भुजदासजी ने खूब अनुमान कर लिया कि हो न हो मेरा प्यारा दामोदर यही है किन्तु उन्हें वृद्ध की मीठी, अटपटी और प्रेम रस से सनी भोली बातों में बड़ा रस आ रहा था, अत: वे चुपचाप सुनते ही चले जा रहे थे। क्यों न हो, अपने प्रिय की चर्चा अनुकूल और प्रतिकूल सभी प्रकार प्रिय लगती है। वृद्ध कहता जा रहा था–

"बाबा जी ! आप साधु हैं, पण्डित भी मालूम होते हैं, आप ही बताइये, यह "हरिवंश" क्या है ? हमने भी साधुओं का संग किया है, पुराणों की कथायें सुनी हैं, हमने विद्वानों से समागम भी किये हैं पर किसी ने कहीं भी 'हरिवंश' को न बताया। सबने यही बताया राम कहो, कृष्ण कहो, गोविन्द कहो, हरि कहो। वामन, नृसिंह, विष्णु, मुरारि ये सभी उसके नाम हैं। इन नामों के जपने, गाने से मुक्ति होती है पर यह 'हरिवंश' न कहीं सुना और न देखा-पढ़ा ही !"

"मैं तो निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि उस बेचारे युवक को इसी हरिवंश ने पागल कर रखा है जिसका वह नाम लेता है।"

"क्या कहूँ महाराज ! कितना सुन्दर है वह युवक? गोरा-गोरा सोने सा शरीर, ब्रह्मचर्य के तेज से जगमग-जगमग करता रहता है। उसके अङ्गों की सुढारता, तेजोमय मुख मण्डल, अजान भुजाऐं, प्रशस्त वक्षस्थल किसके मन को बरबस अपनी ओर आकर्षित नहीं करता। प्रफुल्लित मुख कमल के आस पास जो काली-काली घुँघराली लटें बिखर रही हैं,

यद्यपि वे धूल से सदा भूरी सी बनी रहती हैं तो भी ऐसी मालूम होती हैं, मानों मकरन्द पान के लोभी भौंरे पराग से धूसरित होकर कमल के आस पास ही थके लटक रहे हैं।''

''स्वामी जी! सचमुच बड़ा ही मनोहर है वह। किन्तु हाय! जब वह ''हा हरिवंश'' कहकर जोरों से करुण चीत्कार करता है, तब अवश्य हमारे प्राण काँप से जाते हैं। भले ही वह आपका दामोदर हो या न हो किन्तु एक बार आप चलकर उसे देखने का कष्ट तो अवश्य कीजिये। आप मेरी बात पर विश्वास कीजिये, वह बड़ा ही सुन्दर है, बड़ा मनोहर है। ऐसा मालूम होता है, मानो पृथ्वी पर स्वर्ग-लोक का कोई देवता ही मनुष्य रूप में उतर आया है।

वृद्ध की बात सुनकर स्वामी जी तो मंत्र मुग्ध से खड़े ही रह गये। वे सेवक के, अपने दामोदर के प्रेममय ध्यान में स्तम्भित से हो गये थे। तब तक वृद्ध ने स्वामीजी को झकझोर कर सचेत किया और वह फिर कहने लगा–

''बाबा जी! आप भय न करें। मेरे साथ चलें, मैं खोज कर उसका दर्शन कराऊँगा। मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप उसकी दवा करें। आप साधु हैं आपको उस पर दया करनी चाहिये। आप मंत्र-तंत्र ओझा गारुड़ी कुछ अवश्य जानते होंगे। चलिये देखें, वह पागल किधर घूम रहा है।''

यों कहता हुआ वह वृद्ध चतुर्भुजदासजी को हाथ पकड़ कर ग्राम की ओर ले चला। वृद्ध की बात पर से स्वामी चतुर्भुजदास जी को पूर्ण निश्चय हो गया कि मेरा दामोदर अवश्य प्रभु के दर्शन से कृतार्थ होकर, उनके प्रेम में उन्मत्त हो गया है। अवश्य उस पर श्रीहरिवंश की प्रेममयी-कृपा

बरस पड़ी है। स्वामी जी अत्यन्त आनन्द के आवेश में वृद्ध के साथ चले जा रहे थे, उनकी दर्शन-ललक और उत्सुकता का कोई पार न था।

वह वृद्ध स्वामीजी को साथ लिये ग्राम, जंगल और सरिता के तटों पर दिन भर उस पागल युवक को खोजता रहा। अन्त में सन्ध्या के कुछ ही पूर्व उसे किसी पुराने खण्डहर में उसके रोने की आवाज सुनायी दी। वृद्ध समझ गया यह आवाज उसी पागल की है। उसने स्वामीजी से कहा– ''सुनते हो, महाराज ! यह करुण चीत्कार ! यह उसीका स्वर है। चलिये, वहीं चलें, जहाँ से यह आवाज आ रही है।''

अन्ततः सब लोग (अर्थात् वृद्ध, स्वामी जी, उनके संगी साथी, और ग्राम के अन्य कुछ लोग) उस पागल के पास पहुँचे। वृद्ध ने इशारा किया और स्वामी जी ने प्रथम दृष्टि में ही अपने प्राण-प्रिय दामोदर को पहचान लिया। वे प्रेमावेश से एकदम दौड़े, और शीघ्रता पूर्वक सेवक को हृदय से लगाकर स्वयं भी जोरों से रोदन करने लगे। प्रेम का वार्द्धक्य उनके आपे से न रुका, वे अपने आपको खूब सम्हालते हुए भी न सम्हाल सके। सेवक के प्रेम-प्रभाव ने उन्हें रोने के लिये विवश कर दिया, अथवा वे स्वयं एक पागल का स्पर्श पाकर पागल हो गये।

लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न था। वे सब सोच रहे थे– हाय भगवान् ! अब क्या होगा? अभी तक तो एक ही पागल था, अब दो हो गये। लोग उन्हें समझाते भैया! क्यों रोते हो? पर क्या यह समझाने-समझने की बातें हैं। इस ना समझी में कितना रस था, कितना आनन्द था कौन बताये?

दो प्रेम-सागर एक महा प्रेम-सागर बने जा रहे थे। प्रलय हुआ चाहता था, ज्वार भाटे से। बड़ी कृपा हुई, जो अपने आप शान्त हो चला।

धीरे–धीरे उनकी उत्ताल तरङ्गें, धीमीं पड़ीं। तूफान शान्त हो चुका था, इसलिये अब लहरें भी शान्त थीं।

दोनो प्रकृतिस्थ हो गये थे। तब धीरे से सेवक के सिर पर अपना प्यार पूर्ण कर–कमल फिराते, उनकी लटों को सुलझाते हुए स्वामी जी ने पूछा– "दामोदर ! तुम्हें यह क्या हो गया है ?"

दामोदर क्या कहते क्या हो गया है। उनकी आँखों से टप–टप आँसू गिरने लगे, हृदय में टीस उठी और एक लम्बी साँस निकल पड़ी।

बस, इतना ही परिचय काफी था, स्वामी जी सब समझ गये। उन्हें वैखरी में समझने की आवश्यकता न थी, पर वे उन लोगों को समझाना चाहते थे, जो सेवक को पागल और विक्षिप्त समझते थे। उन्होंने सेवक से फिर पूछा– "हाँ, बताओ, सावधान होकर कहो तुम्हारी ऐसी विक्षिप्त सी दशा क्यों हो गयी ?"

अपने पूज्य बन्धु एवं सन्त की आज्ञा की अवहेलना सेवक जैसों से सम्भव न थी। उन्होंने धीरे–धीरे लड़खड़ाती पंगु वाणी में कहना प्रारंभ किया–

"आपसे बिछुड़ कर मैंने नौ दिवस पर्यन्त अनशन पूर्वक 'श्रीहरिवंश' नाम की रट लगा दी। बीच की बातें क्या कहूँ, नवें दिन मेरा भाग्य सूर्य उदय हुआ। मैंने अपने आपको एक ज्योति में पाया। श्रीहरिवंश ने मुझ पर कृपा की। उन्होंने दर्शन दिया, मंत्र दिया, विपिन–विहार दिया, उन्होंने मेरे सारे मनोरथ पूर्ण कर दिये। वे मेरे प्रभु हैं, वे मेरे गुरु हैं, वे मेरे सर्वस्व हैं। मैं उनका हूँ, उनका सेवक हूँ।"

इतना कहते–कहते सेवक प्रेम से विह्वल होकर फिर रोदन करने लगे, और फिर मूर्च्छित होकर अपने पूज्य अग्रज की गोद में लुढ़क गये।

इस मिलन प्रसंग से उपस्थित ग्रामीण–गण एवं वैष्णव समुदाय को अपार सुख मिला। सबने बड़े सुख–पूर्वक वहीं रात व्यतीत की। ग्राम वासियों ने सन्तों की बड़ी आव–भगत की। वे अब समझ गये थे कि ये पगले प्रेम के पगले हैं। हरि रूप हरिवंश के पगले हैं। उनकी दृष्टि अब हरिवंश के पुनीत चरणों तक पहुँच चुकी थी, क्योंकि वही सब तो हरिवंश–प्रिय सेवक के अनबूझ भोले सखा थे। सेवक सख्यत्व के नाते ही हरिवंश कृपा के प्रथम अधिकारी हुए वे उस गोंडवाना जैसे अपावन देश में।

अस्तु; जब रात्रि के समय सब लोग भोजन–प्रसाद आदि से निवृत्त होकर बैठे तब स्वामी जी ने श्रीवन से चलकर यहाँ तक अपने आने का आशय प्रकट करना चाहा। उन्होंने सेवक जी से कहा– ''भाई ! आचार्य चरण तुमसे मिलने के लिये बहुत आतुर हैं उन्होंने मुझे तुम्हारे पास इसीलिये भेजा है कि मैं शीघ्र तुम्हें उनके चरणों तक भेजूँ। यदि तुम चाहो तो उनकी आज्ञा शिरोधार्य करो अथवा मैं ही जाकर उन्हें तुम्हारा कुशल समाचार सुना दूँ।''

दामोदर सेवक जी ने स्वामी चतुर्भुजदास जी की बात सुनी और गम्भीरता से उन्होंने उस पर विचार भी किया, पश्चात् नम्र निवेदन किया कि मुझे अपने प्रभु हरिवंश की आज्ञा का पालन करने के लिये केवल एक वर्ष तक भूतल पर अवश्य रहना होगा। उन्होंने मुझे जो–जो सेवा कार्य सौंपे थे, उनमें से एक कार्य अपनी शक्ति सामर्थ्य के अनुसार मेरे द्वारा पूर्ण हो गया। श्रीहरिवंश के त्रिभुवन पावन यश की माला रूप वाणी श्रीवन जा चुकी है। अब मैं भी श्रीवन और आचार्य–चरण के दर्शन करना चाहता हूँ।

यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं श्रीवन जाऊँ और आचार्य-चरण की आज्ञा एवं अपना मनोरथ दोनों पूर्ण करूँ।

स्वामी जी ने सेवक दामोदरजी की बात सहर्ष मान ली। अन्य सबने भी इस बात का समर्थन किया। अब यह निश्चय हो चुका था कि श्रीसेवक जी श्रीवृन्दावन पधारें और स्वामी जी कुछ दिन इसी देश में निवास करके यहाँ के निवासियों का कल्याण करें।

ग्राम वासियों से अब तक यह बात छिपी न रह गयी थी कि ये वे ही चतुर्भुजदास एवं दामोदर दास हैं, जो गढ़ा-हमारे समीपस्थ ग्राम के निवासी प्रकाण्ड पण्डित हैं। पाण्डित्य के पूर्व परिचय के साथ जब इनके विलक्षण भक्ति भाव का भी उन्हें दर्शन मिला, तब तो मानो उन ग्राम-वासियों के लिये वे बन्धु-द्वय प्राण हो गये। आस-पास के ग्रामों से दर्शकों की अपार भीड़ एकत्र हो गयी। श्रद्धालु प्रेमियों ने कितने ही दिनों तक दोनों प्रेमी सन्तों के सत्संग का अपार सुख लूटा। अन्त में सबने देखा कि सेवकजी के मन में श्रीवृन्दावन-दर्शन की अत्यन्त लालसा है, वे अब अधिक काल तक यहाँ नहीं रुक सकेंगे, अतः अब अधिक रोकने का प्रयास करना मानों उनके हृदय में कष्ट उत्पन्न करना है, लोगों ने विदा दे दी। सेवकजी प्रातःकाल श्रीवन के लिये विदा हो जाँयगे, यह बात ग्राम वासियों के लिये असह्य थी। इस दुःख और शोक के प्रबल प्रवाह से त्राण पाने का उनके पास कोई उपाय न था।

दुःख के समय मनुष्य की बुद्धि या तो घबरा कर कुण्ठित हो जाती है, या उस दुःख से शीघ्र छूटने के उपाय खोजने लगती है। लोग इस वियोग दुःख से छूटने और इतने बड़े सत्संग लाभ के हाथ से सहसा न छूटने के प्रयास में लग गये। सत्य है, जो जिस वस्तु का हृदय से अनुरागी

होता है, उसे अपनी इष्ट वस्तु का किसी न किसी रूप में लाभ अवश्य ही होता है। **'अरध तजहिं बुध सर्वसु जाता'** के न्याय से लोगों ने स्वामी चतुर्भुजदासजी को रोक रखने का विचार खोज निकाला और अन्त में सबने मिलकर उनसे प्रार्थना की।

प्रार्थना में महान् शक्ति है। यदि प्रार्थना सच्चे हृदय से की जाय तो भगवान् का भी आसन हिला देती है। गजेन्द्र और द्रौपदी इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। ग्रामीण लोगों ने स्वामीजी के चरणों में उनके रुक जाने की प्रार्थना की। ग्राम वासियों के सरल और छलहीन शब्दों ने जो अटपटे प्रेम से लपेटे हुए थे, स्वामीजी को लाचार कर दिया। उनमें यह साहस ही न रह गया कि वे उन भावुकों से न भी कर सकें, अन्ततोगत्वा उन्होंने गोंडवाने में ही कुछ काल अपने रहने की बात स्वीकार कर ली। भक्तजन आनन्द से भर गये।

मानवीय व्यापार व्यवहारों में अन्तर हो सकता है किन्तु काल भगवान् का क्रम सर्वदा एक-सा चलता है। सृष्टि के आदि काल से उन्होंने अपनी चर्या दुरुस्त रखी है, वे सदा अपनी एक-सी गति से ही चलते आये हैं। ठीक है बड़ों का आदर्श ऐसा होना भी चाहिये। काल-भगवान् की गति अवरुद्ध कर सके, ऐसा कोई साहसी भी तो नहीं है। रात बीती और वह भयावना प्रातः भी आ गया जिसमें सेवक जैसे प्रेम-मतवाले से उन भावुक ग्रामीणों का वियोग हो जाना निश्चित था।

सबेरा हुआ और अपने दैनिक कृत्य से निवृत्त होकर थोड़ा दिन चढ़ते चढ़ते सेवकजी सबको बिलखता छोड़ श्रीवन के शुभ पथ पर चल पड़े। लोगों के दुःख का क्या वर्णन करें? सेवक जी की कठोरता भी तो अकथ है। साधारण दुष्टों से ये सुष्टु दुष्ट और भी बुरे होते हैं। सत्य कहा है संत तुलसीने—

बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दारुन दुःख देहीं।।

दुष्ट तो दुष्ट हैं हीं, सज्जन और भी बड़े दुष्ट हैं, कष्ट दोनों देते हैं। च अस्तु; वही सब सेवकजी ने भी किया।

अस्तु; सेवकजी अपनी धुन में मस्त चले आ रहे थे, श्रीवन की ओर। वे चलते-चलते श्रीवन की मंजुल वंजुल कुञ्जों के ध्यान में तल्लीन हो हो जाते। शरीर की सुधि नहीं थी, खान पान की तो बात ही व्यर्थ है।श्रीवन से पुरी जाने वाले अनेकों सन्त उन्हें मार्ग में मिले और सब ने श्रीवन का सुखद सम्वाद अपने अपने ढंग से उन्हें सुनाया। जब वे श्रीवन से कुछ ही दूर थे, उन्हें आचार्य श्रीवनचन्द्र प्रभु का एक पत्र मिला। आचार्य का कर-कमलांकित पत्र पाकर सेवक आनन्द से भर गये। उन्होंने पत्र को सिर से और फिर हृदय से लगाया और खोलकर बाँचने लगे। उसमें, परम स्नेह की सुधा लहरा रही थी, जिससे सेवक का भावुक हृदय छलक उठा। हाथों में पत्र और नयन की कोरों में जल लिये सेवक उसे बाँचते ही रहे। उस पत्र में लिखा था-

''मेरे प्राणोपम प्रिय दामोदर !

शत-शत प्यार।

जब से तुम्हारी प्रेम गाथा सुनी है, तभी से हमारे प्राण तुम्हें देखने के लिये आकुल हैं। मैं दिन प्रतिदिन तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

मैं उस दिन कितना सुखी होऊँगा, जिस दिन तुम्हें श्रीवन में देखूँगा, कह नहीं सकता। मैं जिस दिन तुम्हें पाऊँगा, कितना धनी बन जाऊँगा, व्यक्त करना कठिन है। मैं उस दिन तुम्हारे मिलन की

खुशी में, मिलन के आनन्द में परम प्रियतम श्रीराधावल्लभलाल का समस्त भण्डार लुटा कर उस आनन्द के प्रवाह को शान्त करूँगा।

इस पत्र को पाकर विलम्ब न करना, शीघ्र श्रीवन के लिये प्रस्थान कर देना। अवश्य और शीघ्र आओ, तुम्हें मेरी शपथ है।

अधिक क्या लिखूँ; इतने में ही सब समझ लो। विशेष लिखने की गति तुम्हारे प्रेम ने छीन ली है।''

—तुम्हारा

श्रीवनचन्द्र गोस्वामी

वृन्दावन

शुभ मिति......संवत् १६१० विक्रम.

पत्र ने सेवकजी को आनन्द में तो डुबाया ही, दु:ख में भी डुबा दिया। वे सोचने लगे मेरे मिलन की खुशी में श्रीराधावल्लभ लालजी का भण्डार लुटा दिया जायगा। उनके मस्तिष्क में ''मैं उस दिन तुम्हारे मिलन की खुशी में परम प्रियतम श्रीराधावल्लभ लाल का समस्त भण्डार लुटाकर उस आनन्द के प्रवाह को शान्त करूँगा '' रह रह कर गूँजने लगा।

सेवकजी किंकर्त्तव्य विमूढ़ से हो गये। वे सोच नहीं पाते थे कि क्या करना चाहिये ? श्रीवन न जाऊँ तो आचार्य ने अपनी प्रेम-शपथ दी है, अत: श्रीवन चलना अनिवार्य है। फिर जब मेरे जाने पर श्रीजी का भण्डार लुटाया जायगा तब कैसा होगा? कितना गजब होगा, सेवक के लिये प्रभु का भण्डार लुटेगा?

सेवक जी का सिर घूम गया। वे थकित से होकर बैठ गये। बड़ी देर तक वे जाने न जाने की उलझन में फँसे रहे। अन्त में उनके हृदय ने

निर्णय दिया, श्रीवन चलकर मैं आचार्य के चरण पकड़ कर उनसे ऐसा न होने देने की प्रार्थना करूँगा। वे प्रेममय हैं, मानेंगे क्यों नहीं?

फिर मन ने कहा– यदि न माना उन्होंने तो क्या होगा? भण्डार लुटने का दृश्य उनके सामने झूल गया। उनके मन ने सान्त्वना सी दी वेष बदलकर चलो, इससे आचार्य पहचान ही न पावेंगे और शायद तब सब आपत्तियाँ टल जायँ। डूबते को तिनके का ही सहारा बहुत है। इस सोच से उन्हें बल मिला।

अस्तु; अब सेवक जी बड़ी तीव्र गति से श्रीवृन्दावन की ओर बढ़े। कहते हैं हृदय में प्रेम हो, किसीके दर्शन की उत्सुकता हो, प्रियतम का संगम होने की सम्भावना हो और शरीर में अमित शक्ति हो तो मनुष्य की गति देवता जैसी हो जाती है। सेवकजी अबाध गति से श्रीवन की ओर बढ़े चले जा रहे थे, उनका लक्ष्य निश्चित था। एक तो मार्ग में कोई प्रलोभन था ही नहीं, यदि था भी तो वह सेवकजी के दिव्य प्रेम प्रवाह में कब का बह चुका था। सेवकजी न कुछ दो मास में ही श्रीवन आ पहुँचे। उन्होंने जिस दिन श्रीवन में प्रवेश किया, उस दिन उनके गुरुदेव श्रीहरिवंशचन्द्र की दी हुई अवधि के केवल सात ही दिन शेष रह गये थे।

अस्तु; श्रीवन में पहुँचते ही सेवकजी को वह बात फिर खटकी "तुम्हारे देखते ही आचार्यपाद श्रीराधावल्लभ लाल का समस्त भण्डार लुटा देने की प्रतिज्ञा कर बैठे हैं," सेवकजी का हृदय एक विषम चिन्ता से फिर व्यग्र हो उठा। उन्होंने सोचा, कितना आश्चर्य होगा, मुझ अधम सेवक के मिलन की खुशी में मेरे प्रभु श्रीराधावल्लभ लाल का समस्त भण्डार लुटा दिया जायगा। ठीक है आचार्यपाद तो उदार हैं, गुणग्राही हैं, भक्त–वत्सल हैं, वे जो करें, उनके लिये उचित ही है, किन्तु क्या मेरे लिये

भी यही उचित है कि मैं बिना किसी प्रतिकार के यह सब स्वीकार कर लूँ ? ऐसा कदापि न होने दूँगा। मैं ऐसे वेष में जाऊँगा, जिससे मुझे आचार्यपाद पहचान ही न पावें।

ऐसा निश्चय करके सेवकजी ने अपना वेष बदल लिया। अब उनके शरीर पर एक कौपीन, कन्था और हाथ में कमण्डलु था। उनका सर्वांग ब्रज-रज से धूसरित था।

इस प्रकार सेवकजी एक अवधूत के वेष में ही अपने प्राणेश्वर श्रीराधावल्लभ लाल जी का दर्शन करने मन्दिर में गये। मन्दिर में प्रभु के दर्शनार्थियों का समुदाय पहले से ही सदा की भाँति एकत्र था, सेवकजी उन्हीं के बीच छिपकर अपने प्रियतम की छबि निरखने लगे। दर्शन तो हम भी सब करते हैं किन्तु प्रेमियों के दर्शन में और सामान्य लोगों के दर्शन में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। जिस प्रकार प्रेमी अपने प्रेमास्पद प्रभु से प्रेम करता है, उसी प्रकार प्रभु भी उस प्रेमी को अपना प्रेमास्पद मान लेते हैं और वे भी उसका दर्शन करने लग जाते हैं। सेवकजी के मन्दिर में आते ही श्रीराधावल्लभ लाल के नयन कमल खिल उठे। वे सब कुछ भूल कर सब ओर देखना छोड़कर प्रेम सतृष्ण नेत्रों से अपने प्यारे सेवक को ही देखने में तन्मय हो गये। इस रहस्य को केवल वे दोनों प्रेमी-प्रेमास्पद, या प्रेमास्पद-प्रेमी ही जानते थे। शेष सब दर्शनार्थी तो अपने अपने रंग में मस्त थे।

श्रीवनचन्द्र आचार्यपाद कोई साधारण व्यक्ति तो थे नहीं। वे अपने प्रभु की क्षण-क्षण की स्थितियों को परखा करते थे। स्पष्ट शब्दों में कह दें तो उन्हें श्रीराधावल्लभ लाल का तत्व साक्षात्कार था। आज वे ही सेवा में तत्पर थे। उन्हें यह बात जँच गयी कि अवश्य कोई ऐसा प्रेमी दर्शक

इस उपस्थित समुदाय में आ पहुँचा है, जिससे प्रभु सब ओर का ध्यान भुलाकर उसके प्यार में अपने नेत्र बाँध चुके हैं। इसके सिवाय और कोई बात हो ही नहीं सकती इनके चकोर बन जाने की।

आचार्य ने एक खोज भरी दृष्टि दर्शक-वर्ग की ओर डाली। उन्होंने एक ही क्षण में अपने चोर को पकड़ लिया। वे सोचने लगे, चतुर्भुज ने जैसा वर्णन किया था, वही रंग वही ढंग, वही अवस्था, वही गठन, वही रूप सौन्दर्य, सब कुछ वही, एक दम वही। तो क्या यही मेरा दामोदर है ? मन्दिर में विराजमान् प्रभु ने मुस्करा दिया और उनके हृदय मन्दिर के प्रभु ने कहा– तो क्या और भी कोई हो सकता है जिसके पहचानने में तुम्हें इतना संकल्प विकल्प करना पड़े ?

निश्चय के साथ ही आचार्य का हृदय प्रेमानन्द से छलक उठा। एक ही साथ उनके शरीर में अनेकों सात्विक विकारों का उदय हो आया। रोमाञ्च, कंप, वैवर्ण्य, स्वेद---- वे अब तब मूर्च्छित होकर गिरना ही चाहते थे किन्तु उन्होंने अपने आपको सँभाला, वे मन्दिर से बाहर आये, सो भी इस प्रकार, जैसे कोई महा रंक, सहसा आ प्राप्त हुई महानिधि को समेट लेने को आतुर होकर लपक पड़े। वे दौड़े, सेवक को अपने बाहु-पाश में बाँध लेने के लिये। यह स्थिति सेवक की कल्पना से अतीत थी। वे कुछ समझ ही न सके, क्या करें और क्या न करें। सेवक अधीर होकर आचार्य के पुनीत चरणों से लिपट गये। ऐसे जैसे कोई भयाकुल प्राणी अपने त्राणकारी आधार को सर्वतोभावेन जकड़ लेता है। दर्शनार्थीगण प्रभु का दर्शन छोड़कर इन प्रेम पागलों का दर्शन करने लग गये। दोनों अवाक् थे, अमना हो चुके थे। आचार्य अपने प्रेमाश्रुओं से सेवक का अभिषेक कर रहे थे और सेवक अपने प्रेमाश्रुओं से आचार्य का पाद प्रक्षालन। प्रथम मिलन की प्रक्रिया अपने आप पूर्ण हो रही थी।

(आखिर कब तक होती रहती यह प्रक्रिया) आचार्य ने सेवक को उठाकर अपने हृदय से चिपटा लिया और प्यार-पूर्वक उनका सिर सूँघने लगे। सेवक मारे संकोच और प्रेम-लज्जा के गड़े से जा रहे थे। उनके नेत्रों से अभी भी अनवरत अश्रुधारा प्रवाहित थी, वे अपराधी की भाँति दीन हुए उभय करबद्ध आचार्य से लगे सिमटे से खड़े थे। उन्होंने बड़े ही संकोच से अपने आपको आचार्य से छुड़ाकर पुनः उनके श्रीचरणों का स्पर्श किया और कुछ दूरी पर मर्यादा-पूर्वक खड़े हो गये।

तत्पश्चात् आचार्य ने अत्यन्त आनन्द के स्वर में कहा- "दामोदर ! तुम्हें देख लेने के लिये मेरे नेत्र और प्राण कबसे आकुल थे, आज मैं कितना प्रसन्न हूँ तुम्हें देखकर, कैसे प्रकट करूँ ?"

सेवक ने सकुचाते हुए उत्तर दिया- "प्रभो! यही तो आपकी महानता है, जो मुझ जैसे को इतना समादृत कर रहे हैं। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि आज आपके पुनीत चरणों के दर्शन करके मेरा जीवन जन्म सफल हो गया। मैं सचमुच आज धन्य हो गया।"

आचार्य ने पूछा-"किन्तु सेवकजी ! यह तो बताओ कि तुमने इस प्रकार छिप कर बिना सूचना दिये आने की क्यों सोची?"

इस प्रश्न पर से सेवकजी समझ गये कि आचार्यपाद अवश्य उसी अपनी प्रतिज्ञा पर अटल है और अपनी उसी बात का उपक्रम कर रहे हैं। उन्होंने उत्तर दिया- "भगवन्! आपसे क्या छिपा है? फिर भी जब आप पूछते हैं तो कहना ही होगा। मैंने सुन रखा है कि प्रभु ने मुझ अधम के मिलन के उपलक्ष्य में श्रीराधावल्लभ लाल का समस्त भण्डार-खजाना ....

सेवक इसके आगे कुछ कह नहीं सके। वे इस वाक्य को अपने मुख से कैसे निकालते। वे ऐसे शब्दों को मुख से निकालने में भी असमर्थ थे। उनकी अधूरी बात को आचार्य ने पूरी करते हुए कहा–"लुटाने की प्रतिज्ञा कर रखी है। सत्य है। तुमने जो सुना है सब सत्य है। आज मैं तुम जैसे दिव्य भण्डार को पाकर कितना बड़ा धनी हूँ, इसे विश्व देखे। इसीलिये मैं श्रीजी का सम्पूर्ण भण्डार लुटाऊँगा। इसमें कोई सन्देह नहीं।"

आचार्य की बात सुनकर सेवकजी ने प्रार्थना के भाव में कहना प्रारम्भ किया। वे बोले– "भगवन्! मैं आपकी प्रतिज्ञा के सम्बन्ध में न तो कुछ कह सकता और न कर ही सकता। मैं तो केवल अपने सम्बन्ध से एक निवेदन करना चाहता था, यदि आज्ञा हो तो करूँ।"

आचार्य ने कहा– "हाँ, हाँ अवश्य कहो, तुम्हारी प्रत्येक बात न्याय, धर्म, भक्ति, श्रद्धा और विश्वास करने योग्य होगी अतः निःसंकोच अपने विचार प्रकट करो। तुम्हारा विचार हमें भी मान्य होगा।"

सेवकजी ने कहा– "भगवन्! मान्य होगी या न होगी, इसे तो आप जानें। मेरा तो इतना ही निवेदन था कि सेवक के लिये स्वामी का भण्डार लुटाया जायगा क्या यह बात उचित है भक्ति के नाते? कृपया इस पर आप विचार करें तो उत्तम होगा।"

आचार्य ने कहा –क्यों नहीं ! स्वामी का सब कुछ सेवक के ही लिये तो है।

सेवक ने आचार्य की बात को उलटते हुए से भाव में कहा– "है तो किन्तु ....।"

आचार्यपाद ने सेवक की बात को बीच में ही काटते हुए कहा– "किन्तु मेरी प्रतिज्ञा ?"

"प्रतिज्ञा पूर्ण हो सकती है यदि सेवक की प्रार्थना स्वीकार कर ली जाय," सेवक ने कहा।

सो कैसे ? आचार्य ने पूछा।

"ऐसे कि राधावल्लभलाल का वह भण्डार फिर चाहे उसमें अन्न, धन, वस्त्र, हीरे-मोती, सोना-चाँदी आदि ही क्यों न हो, यदि उनके उपभोग में आ चुका है तो अवश्य लुटा दिया जाय, इससे आपकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो जायगी और जो सामग्री (धन, अन्न आदि) अभी तक उपभोग में नहीं आई है, एकदम नवीन है, उत्सव आदि अवसरों के लिये संचित है, वह कदापि न लुटायी जाय, इससे इस सेवक का मनोभिलाषित हो जायगा।" इतना कहकर सेवक जी चुप हो गये। यह बात आचार्यपाद को उचित प्रतीत हुई। वे अपने सेवक की रुचि रखना चाहते थे। उन्होंने सेवक की बात को सहर्ष स्वीकार करते हुए कहा- सेवक ! तुम सच ही धन्य हो। मैं तुम्हारी बुद्धि की बलैयाँ लूँ, तुमने मुझे आज अपने भावों से, दीनता से, विनय से और इष्ट-निष्ठा से बाँध लिया।"

इसके उपरान्त समस्त प्रसादी भण्डार (अन्न, धन, वस्त्र आभूषणादि) साधु, अभ्यागत और दरिद्र-जनों को लुटा दिया गया। सेवकजी के आगमन की बात समस्त वृन्दावन वासियों में बात की बात में फैल गयी। अनेक सन्त, महात्मा, रसिक, जिज्ञासु, गृहस्थी, नर-नारी सेवकजी के दर्शनों के लिये उमड़ पड़े। चारों ओर घर बाहर प्रत्येक मुख में सेवक की ही चर्चा थी। श्रीवन वासियों के आनन्द का पारावार न था। वे आज ऐसे मतवाले सेवक को पाकर मानो रसिकाचार्य हित हरिवंश चन्द्र के वियोग-जन्य अभाव को भूल गये थे।

इधर आचार्यपाद श्रीवनचन्द्र प्रभु के आनन्द का प्रवाह उमड़-उमड़ कर मानो सब को अपने में डुबा लेना चाहता था। वे बड़े उत्साह से भण्डार के लुटाने, दीन दु:खियों के प्रति दान करने और सेवक का प्रेम-पूर्ण यश बखानने में व्यस्त थे।

धन्य है, ऐसे सेवक, जिनके लिये गुरुदेव भी प्रेम में पागल होकर अपनी मर्यादा भूल जायँ। अपने ही मुख अपने सेवक का सुयश गाने लग जायँ। और शत शत धन्य हैं ऐसे गुरुदेव, जो अपनों के लिये प्रभु की वस्तु भी लुटा बैठें। सेवक को अभिन्न मित्र, सुहृद, सखा, पुत्र और आत्मा की तरह प्यार करने वाले, उन पर बलिहार जाने वाले, आज कितने आचार्य हैं ? कोई बतायेगा, कहाँ होता है उनका दर्शन ?

यह पुनीत सम्बन्ध, यह नि:स्वार्थ-भावना, यह प्रीति का असामान्य प्रवाह कितना बड़ा आदर्श है ? आदर्श ? मत कहिये आदर्श! आदर्श में लोक-संग्रह की भावना निहित है। आदर्श, प्रेम के दिव्य उल्लास के सर्व प्रवाहक प्रवाह का पद घटा देने वाला है। यह प्रेम है, सहज धर्म है, हित की वास्तविक रीति है और मानव हृदय से परे विराजमान् भाव जगत् है जिसकी कल्पना भी दुरूह है।

हम पहले कह आये हैं कि श्रीसेवकजी की वाणी पहले श्रीवन आ चुकी थी और आचार्य श्रीवनचन्द्र महाप्रभु ने उसका हृदय से आदर किया था। सेवकजी के दर्शन मिलन से उन पर और अधिक प्रभाव पड़ा; अत: उन्होंने अपने अनुयायी श्रीहित धर्मावलम्बी भक्तों के लिये आज्ञा कर दी कि "आज से श्रीसेवकजी की वाणी का उतना ही आदर होगा, जितना श्रीहिताचार्यपाद रचित "श्रीहित चतुराशी" का है। ये दोनों ग्रन्थ रत्न एक ही साथ लिखे और पढ़े जायेंगे। जो व्यक्ति हमारी इस आज्ञा का

उल्लङ्घन करेगा, वह हित मार्ग से पतित हो जायगा। प्रत्येक हित धर्मी के प्रति मेरी शपथ है कि वह मेरी इस आज्ञा का अवश्य पालन करे।''

तभी से ये दोनों ग्रन्थ-रत्न एक साथ लिखने और पाठ किये जाने लगे। वास्तव में दोनों का तारतम्य भी ऐसा है कि दोनों अलग अलग रहकर शायद शोभा ही न पाते। यदि सेवक वाणी कुंज है, तो श्रीहरिवंश वाणी बिहार है। एक शरीर है तो दूसरी प्राण। एक मन है तो दूसरी आत्मा। एक परमार्थ है तो दूसरी शान्ति। कहाँ तक कहें दोनों का अविचल और गम्भीर सम्बन्ध है।

अब सेवकजी श्रीवन के निवासी हैं। वे कभी वृन्दावन की सुरम्य कुञ्जों का दर्शन करते हैं तो कभी कलिन्द-तनया के तरु-लता-मण्डित सुभग तट का। श्याम वारि-वाहिनी तपन-सुता की सैकती सैय्या पर लोटकर वे कभी अपने आपको धन्य करते हैं, कभी श्रीवन-वासी श्यामा-रस-रसिक सन्तों के दर्शन सत्संग का ही सुख लूटते हैं। इस प्रकार दिन और फिर रात किस तरह बीत जाते हैं, न तो उन्हें पता चलता और न उनके साथियों-सत्संगियों को ही। सुख, आनन्द और आमोद-प्रमोद में ही सात दिन बात की बात में बीत गये। श्रीवन-वासी सन्त सेवकजी को पाकर धनी हो गये थे, वे सुखी थे, मानों उन्हें इस रूप में श्रीहरिवंश ही मिल गये हैं। उन्हें अब किसी बात की झाँक नहीं थी।

किन्तु उन बेचारों को क्या पता था कि सुख के बाद हमें फिर एक बार दु:ख के दुर्दिन देखने पड़ेंगे। हम पर फिर कोई वज्र गिरना चाह रहा है। वह हृदय विदारक घड़ी भी आ गयी, जिसमें सेवक सबको रोता छोड़कर अपने प्राण-प्रिय हरिवंश से जा मिलने के लिये कटिबद्ध हो गये।

संध्या का धूमिल प्रकाश दिशाओं के रोदन और अस्त प्रभता की सूचना दे रहा था। वायु का प्रवाह था पर शिथिल और अन्य मनस्क। चन्द्रमा की शीतल किरणें भूतल पर आना चाहकर भी नहीं आ रही थीं; क्योंकि जानती थीं, कि हमें भावी-शोक-प्रवाह में निरादरित किया जायगा और कोई भी भद्र पुरुष ऐसे दारुण प्रसङ्गों को देखना-सुनना नहीं चाहता तो फिर हम हीं क्यों देखें ? यमुना का सुरम्य पुलिन भी अपनी पूर्ण शोभा का प्रकाश नहीं फैला रहा था, उसे भी तो भावी अन्धकार का ज्ञान था न।

नीरव प्रकृति की अलसायी छाया में, केवल एक सन्त-समुदाय रास-मण्डल की गोद में अपनी छान रहा था। सेवकजी आज साकी बने थे और रास-मण्डल था मदिरालय, सन्तजन थे मय के दीर्घ पिपासु। कौन सी मय ? प्रेम की सुरा और कौन-सी! प्याले पर प्याले ढाल रही थी वह साकी-बाला किन्तु वह पिपासु ही नहीं जो तृप्त हो जाय, तृषा बढ़ती जा रही थी खुमारी चढ़ती जा रही थी, कितने तो मदहोश भी हो चुके थे। प्रेम-मदिरा-पायी रसिकों का समुदाय झूम रहा था, फिर भी उनके अभ्यस्त कर बढ़ ही रहे थे घट की ओर। नेत्र और प्राण एक हो रहे थे साकी-बाला के चरणों में। विचित्र समाँ था।

इसी रास-मण्डल पर कुछ ही दिन पूर्व एक और साकी-बाला ने प्रेम-वारुणी पिलायी थी, तब भी ये ऐसे ही छके थे जैसे कि आज छके हैं। सबके मुख पर एक ही आवाज थी - साकी बाला ! मदिरा ला ला, आबाद रहे यह मय शाला !

जाने क्यों साकी ने हाथ खींच लिया, वह चुप हो गयी। मानों मदिरालय का द्वार बन्द करना चाहती है, वह खड़ी हो गयी। उसने बड़े नम्र भाव से सब पर अपनी एक प्रेम भरी दृष्टि डाली, और उसकी

बड़ी-बड़ी भोली भाली आँखों से टप-टप दो मोती बरस पड़े। उसने एक बार झुक कर प्रणाम किया, उन मय के पुजारियों को। पुजारी पिपासु पागल हो रहे थे, वे अब भी न समझ पाये कि बाला जा रही है।

पाठको ! इस रास-मण्डल को भूलिये नहीं। यह वही रास-मण्डल है, जहाँ कभी आचार्य चरण श्रीहित हरिवंशचन्द्र ने भी प्रेम-सुधा की वर्षा की थी और एक दिन शारदीय-पूर्णिमा को वे भी इसी नित्य स्थल में सदा के लिये अन्तर्धान हो गये थे। उनकी समाधि ही अब भक्तों के लिये उनका चिरस्मरण है।

सेवकजी जिन्हें हम साकी-बाला कह रहे हैं, अपनी उसी भाव-विभोर अवस्था में उठ खड़े हुए और मन्द मंथर गति से चलकर समाधि के निकट आ खड़े हुए। वे कुछ क्षणों तक किसी अलक्ष्य वस्तु का अपनी दृष्टि के द्वारा भेदन करते रहे, उनके अधर-पल्लव एक बार काँप कर फिर शान्त हो गये। समाधि को प्रणाम करके वे निकट के ही वट की चरण-तटी में आ खड़े हुए। भक्तों का महान् समुदाय उनके समीप था। सब देख रहे थे, उनकी इस विलक्षण क्रिया को, किन्तु किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि यह सब क्यों और क्या होने जा रहा है? सेवक के मुख से परम आकर्षक स्वर में एक शब्द निकला 'हा हरिवंश!' उनकी दोनों भुज लताएँ विशाल वटवृक्ष के दीर्घकाय को अपने में बाँध लेने के लिये बढ़ीं और उन्होंने एक ही क्षण में अपने शरीर को उस विशाल वट में लीन कर दिया। भक्तों में हा-हाकार मच उठा। प्रेमी गण "हा सेवक! हा सेवक!! कहकर चीख पड़े। कितने तो मूर्च्छित होकर धड़ाम-धड़ाम पृथ्वी पर गिर पड़े। कितने रोते और चिल्लाते हुए यही कह रहे थे- हे श्रीकृष्ण ! हे श्रीराधे ! यह क्या हुआ ? दयामय! यह तुम्हारी

कौन–सी लीला है ? क्या इतने शीघ्र ही हमारे सेवक को हमसे छुड़ा लेना था ? हाय रे हाय ! हमारा तो सर्वस्व छिन गया। हम अनाथ हो गये। विधि! तूने सुख दिखाकर यह दुःख क्यों दिया ? अब हम किसके लिये अपना जीवन रखें ? सेवक! सेवक!! तुम भी श्रीहरिवंश की तरह ठग निकले। अरे ओ ठग! तुम तो हमारा सर्वस्व लूट कर ले गये, तुम बड़े निर्दय हो। तुम्हें हमारे ऊपर दया भी नहीं आयी ? अरे कठोर! हम पर तुम्हें तरस भी नहीं आया ?

इस प्रकार कितने ही समय तक वहाँ करुण रस का साम्राज्य छाया रहा, पश्चात् भक्तों ने 'हरिरीच्छा बलीयसी' जानकर सन्तोष किया। करते भी क्या? सन्तोष करने के अतिरिक्त उनके पास दूसरा कोई चारा भी न था।

सेवक जी अपने नित्य परिकर में जा मिले। उन्होंने अपना दिव्य एवं नित्य रूप प्राप्त कर लिया। वे एक महापुरुष थे अपना कार्य करने आये थे। कार्य पूरा करके चले गये। इन महापुरुषों का कौन तो अपना और कौन पराया? सत्य है–

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
महापुरुष चेतांसि कोऽपि विज्ञातुमीश्वरः॥

अर्थात् " इन महापुरुषों का चित्त बज्र से तो अधिक कठोर और फूल से भी अधिक कोमल होता है। भला, इसे जानने समझने में कौन समर्थ हो सकता है?"

अस्तु, जो हुआ, हो गया; उसकी क्या मीमांसा ! अब तो सेवक की पावन स्मृति के दो ही स्मारक शेष हैं, एक तो सहस्रों को आश्रय देने वाले विशाल वट की सुशीतल छाया और अनन्त जन पावनकारी, प्रेम रस लीन, प्रेम प्रदायिका वाणी। और यही दोनों अब उनके प्रेमियों के आश्रय हैं।

\+ + + + + + + + +

श्री सेवकजी की वाणी– 'सेवक वाणी' के नाम से प्रख्यात है। यह रसिक अनन्यों की जीवनी है। इसमें जो है, वह पढ़ने से ही यथार्थतया विदित हो सकता है। रसिक भक्तगण उनकी वाणी को ही सेवकजी की प्रतिमूर्त्ति समझ उसका सत्सङ्ग करें और अपना जीवन-जन्म कृतार्थ करें।

श्रीहित रसोन्मत्त, नादकुल भूषण दामोदर 'सेवक' के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाय थोड़ा है। श्रीसेवक जी के सम्बन्ध में आज तक जिन-जिन महात्माओं ने जो कुछ कहा है, उसे हम अगले पृष्ठों में "सेवक सुयश" शीर्षक से दे रहे हैं, और इस चरित्र को उनके श्रीचरणों में नमन करते हुए विश्राम देते हैं।

श्री सेवक महं वन्दे श्रीहरिवंश प्रकाशकम् ।

।। जै जै श्रीहरिवंश ।।



॥ श्रीहित हरिवंश चन्द्रो जयति ॥

सेवक सुयश

श्रीहित राधावल्लभीय सम्प्रदाय के अनुयायी रसिक अनन्यों के मत से श्रीसेवक जी (दामोदर दास जी) निभृत निकुंज विलासिनि श्रीराधा के अंशावतार हैं। क्योंकि जब लाल जी की वंशी ने हरिवंश रूप से निरन्तर राधा-राधा ही गाया, राधा का ही सुयश बखान किया तो श्रीराधा प्रेम से लच गयीं, उन्हें भी सेवक अवतार लेकर हरिवंश का नाम, प्रताप और यश प्रकट करना पड़ा।

इस विचार से सेवक रूप श्रीराधा ने हरिवंश का यशोगान किया। पश्चात् अनुयायी रसिक महानुभावों ने सेवकजी के सम्बन्ध में आदि-काल से आज तक जो लिखा है वह नीचे के छन्दों में क्रमशः देखिये।

रसिकाचार्य श्रीहित हरिवंशचन्द्र के ज्येष्ठ पुत्र आचार्य श्रीवनचन्द्र जी से ही लेकर सेवक-उत्कर्ष की वाक्यावली प्राप्त है। यहाँ सभी काव्यकार सन्तों के वचनामृत अल्प रूप में बानगी के तौर पर उद्धृत किये गये हैं-

(१) ------------------------

सेवक बानी कौ पढ़ौ चतुरासी के साथ ॥

– श्रीहित आचार्य श्रीवनचन्द्र प्रभु

(२)

सेवक मत प्रमान हमारे मन बच क्रम करि मानैं।
श्रीहरिवंश हृदौ मथि थाप्यौ बानी नाम बखानैं॥
नाद बिंदु सुनि रति सौं चलिबौ श्रीहरिवंश रझिानैं।
धर्मिनु मर्मिनु सकल कसौटी सेवक वचन कसानैं॥

जासौं हितू प्रान पुषत हैं सोई इनमें गानैं।
(जैश्री) हित मोहन सीतल बानी सुनि अधम मनैं नहिं आनैं॥

—श्रीहित मोहनचन्द्र प्रभु

(३)

हित धन सेवक धनी पग बन्दौं।
उभै कृपा अति फल कियौ प्रापक सुरत सेज रति अतर अमंदौं॥
अति अगाध अति अगम अगोचर सब घट भर्‍यौ हित चंदौं।
'चतुर्भुज दास' गुरु मुरलीधर सेये, समझौ रूप सेवक वच छन्दौं॥

— स्वामी श्री चतुर्भुजदास जी

(४)

प्रथम सु सेवक पद सिर नाऊँ।
कृपा करौ दामोदर मो पर श्रीहरिवंश चरन रति पाऊँ॥
गुन गंभीर व्यासनन्दन जू के तुव परसाद सुजस रस गाऊँ।
'नागरीदास' के तुमहीं सहायक रसिक अनन्य नृपति मन भाऊँ॥

—श्रीनागरीदास जी

(५)

विमल हरिवंश-रस आइ सेवक कह्यौ।
परम वैदग्ध वारिधि विविध पूर्व रति
धर्म हरिवंश-गंस मर्म प्रेमा बह्यौ॥
सर्व रसिकनि मनि धर्म सिखयौ
छनी भनी अति गूढ़ आरूढ़ सकृती लह्यौ।
हित तनय कृष्ण चन्द्र प्रताप बल
'राम हित दास' आइ नियरैं रह्यौ॥

—श्रीहित रामदास जी

(६)

सेवक की सर को करै भजन सरोवर हंस।
मन बच कै धरि एक व्रत गाये श्रीहरिवंश॥
वंस बिना हरि नाम हू लियौ न जाकैं टेक।
पावै सोई वस्तु कौं जाकैं है व्रत एक॥
भाग पाइ जो पाइये ऐसे रसिक रसाल।
जिनके हिय ते टरत नहिं (श्री) राधावल्लभलाल॥

— श्रीहित ध्रुवदास जी

(७)

आसक्ति देस सेवक ही जनायौ।
हित ही हित उचर्‌यौ मन विचर्‌यौ॥
हित पथ पैंड़ौ सबनि दिखायौ॥
बिखरे मन संपुट किये बानी सुनि बन वास करायौ।
'लालदास' गुरु गोपीनाथ बल सेवक सौं मिलि हियौ सिरायौ॥

(८)

हित प्रेम निज प्रेम की आइ सेवक जु जग,
विसद भेदनि विमल नींव गहरी धरी।
हरिवंश रति बोलत प्राणनाथे रतिः,
कहौं न हरिवंश बिनु सपथ हित जू करी॥
प्रणय की गारि मथि वारि आनन्द सौं
प्रेम पाहन प्रबल आवेश हुम हुमी झरी।
चित्त नव चाह सौं मननि बहु इष्ट लहि,
रचि पचित उच्च चित्रसारी खरी॥
तुंग आसक्ति अति विविध छन्द कुंद कल,
अक्षर अक्षर कुरी दसा षट रितु खरी।

भाव उज्ज्वल कली ढरी अति चमतकृत,
ओप चढ़ि मत्तता ललक नाना रँग ढरी॥
सेज हित हृद मधि जुगल हेम मनि खचे,
सुहृद अली कलपतरु रूप नख सिख फरी।
प्रिया अँग सिंधु रस मीन पिय बूड़ि रह्यौ,
प्रान खग मिथुन छकि बसे चहचर करी॥
रमित हित नृपति सुख राज हित नृपति जू,
अगह हित महल सो गिरा सेवक उच्चरी।
समुझ ता पहुँच कौं धर्म मर्मी सिढ़ी रसिक हित,
भन 'दामोदर' सुरत गाढ़ी डग भरी॥
—गोस्वामी श्रीदामोदरवर जी

(९)

जै सेवक हरिवंश अनन्य।
सबकौं हितदायक तुम ही धर्म मर्म हरिवंश शरण्य॥
सांचौ प्रेम सुधा-रस धारा बरसन बानी हित हृद धन्य।
गुरु शिष्यन कौ भेद भीतरौ दामोदर हित सब सुख रन्य॥
— श्रीहित दामोदर स्वामी जी

(१०)

छके छकि रूप हरिवंश जू मूर्त्ति कौ
मगन अति मत्त भल रसिक सेवक पियौ।
कहा आसव मधुर मृदुल स्निग्ध कहा
अकह हित गटकि सब बाँटि रसिकन दियौ॥
रभस भये उदमदे गिरा सिर हृदि लदे
नदे आरन्य मधि ध्यान सेवक लियौ।

कंठ दृग वारि भरे भींजि रस बूड़ि रहे
"(जै श्री) कुंज हित लाल छबि देखि ज्यावत जियौ॥
— गोस्वामी श्रीहित कुञ्जलाल जी

(११)

ब्रज लोक सो न लोक है, विलोकौ सब लोकनि में,
हँसजा सी नदी है न पंछी है हंस सो।
भगवत धर्म सो न धर्म और सर्वोपरि
भागवत पुरान सो पुराननि प्रसंस सो॥
इन्द्र मणि चिन्ता मणि सी न मणि और कोऊ,
धेनु काम धेनु सी न सुर तरुवर अंस सो।
राधावर नाम सो न वृन्दावन धाम सो,
सेवक सो सेवक न गुसाँईं हरिवंश सो॥
— गोस्वामी श्रीइन्द्रमणि जी

(१२)

सेवक तुम बिनु हियौ को पोषै।
अपने हिये कौ सार सच्यौ रस, गिरा वन यौं मो मोषै॥
छानि-छानि हित भाव पटनि सौं, हित ही हित हृद सोषै।
(जै श्री) रसिकलाल हित प्यालौ पीवत, तन मन प्राननि तोषै॥
—गोस्वामी श्रीहित रसिकलाल जी

(१३)

'रसिकमाल' से–

गौड़ देस सेवक को बास। श्रीहरिवंश चरन की आस॥
- -
सेवक कही ये है मेरे पन। - - - - - - - - - - - - -

हित जी पै ही दीक्षा लेऊँ। नातरु तौ यह वपु तजि देऊँ॥
------------------। सेवक उहाँ गुरु दर्शन पाये॥
सुपने में निज मंत्र सुनायौ। सिर कर धर्यौ निपट अपनायौ॥
धाम इष्ट को भजन बतायौ। रसिक अनन्य पंथ दरसायौ॥

सेवक सिद्ध भये जु तुम, दरस दियौ हरिवंश।
चतुरभुज यौं कहि पग परे पुनि पुनि करत प्रसंस॥

अधिक कही भगवंत ने उत्तम सेवक रीति।
पढ़ै सुनै श्रद्धा सहित बढ़ै जुगल सौं प्रीति॥

— श्री उत्तमदास जी

(१४)

'रसिक अनन्य माल' से—

सेवक सम सेवक नहीं, धर्मिनु माँझ प्रधान।
श्रीहरिवंश के नाम गुन, बानी सर्वसु जान॥

जोइ मंत्र चतुर्भुज सुनि आये। सोइ मंत्र सेवक घर पाये॥
नहीं उपासक दूसरौ सेवक सो कोइ आन।
भगवत मुदित भये गुरु प्रन पाल्यौ हित मान॥

— श्री भगवत मुदित जी

(१५)

मन क्रम वचन त्रिसुद्ध न कोऊ, सेवक सो हरिवंश उपासिक।
आन धरम्मिन सों नहिं संग, हरिवंश धरम्मिन में बस बासिक॥

हरिवंश पतिव्रत लै निबह्यौ दुख पाइ खिसाइ रहे उपहासिक।
हरिवंश कृपा रस मत्त सदा सोई नाथ कहैं अब यामें कहा सक॥

— श्रीनाथ भट्ट जी

(१६)

'अनन्य सार' से–

साँची हित जी सौं लगी, दृढ़ करि सेवक प्रीति।
धाम पधारे प्रगट भये, श्रीहरिवंश जु मीत॥
सेवक कौ सेवक किये, इष्ट धाम दिखराइ।
वृन्दावन यमुना पुलिन, वृक्ष लता जु सुहाइ॥
ललितादिक दर्शन कियें, टहल लियें सुख रास।
बाजत ताल मृदंग अरु, गावत हियें हुलास॥
धन्य धन्य सेवक जु जिन, हित जी दर्शन लये।
कुंज महल सुख पुंज में, इष्ट सहित गुरु ही किये॥

— गोस्वामी श्रीहित जतनलाल जी

(१७)

श्री व्यास सुवन की बात न बूझै।
अक्षर अक्षर हित-झरी वरषत क्यौं भटकत झूँठे सुख मूँझै॥
निज स्वामिनि रस अकथ कथ्यौ है देखि लाल रस पीवत झूँझै।
(जै श्री) 'रूपलाल' हित दृग की ऐनक सेवक धरै हित सूझै॥

— गोस्वामी श्रीहित रूपलाल जी

(१८)

सदा जगमगत सेवक प्यारौ श्रीहरिवंश नवेल।
सेवक के सिर मंडन हित जू सेवक हित दृग तरिखेल॥

सेवक की जीवन श्रीहित जू सेवक पालक रस दै केल।
सेवक की आसा श्रीहित जू साँचौ फल हरिवंश अलेल।।
सेवक की सोभा श्रीहित जू सेवक प्राननि प्रान दलेल।
विद्या सेवक हित सेवक तारक हित मोहित हित सेवक सकेल।।
सेवक की अभिलाषा हित जू हित आत्मा सेवक रहे भेल।
सेवक हिय स्थान श्रीहित कौ हित लीला रस मत्त सब पेल।।
सेवक कौ भोजन श्रीहित जू हित सेवक बिहरत भुज मेल।
(जै श्री) हित बीठल सेवक हित प्रीतहिं समुझ्न पलट ज्यौं तरु सौं बेल।।

— श्रीहित बीठल राय जी

(१९)

हरिवंश सेवक लगन अतिहि भावै।
कहा प्रिया लाल रति कहा ससि चकोर है,
कहा अलि कंज रुचि सबनि द्यावै।।
कहा रवि नलिन है राकेश कमोदनी कहा,
सारँग सलभ मन तन न आवै।।
कहा चातिक सुधा कहा जलधर सिखी,
श्री गुलाब लाल हित नेह सेवक घुमावै।।

— गोस्वामी श्रीहित गुलाबलाल जी

(२०)

सेवक हित रैंनी रंग रँगा।
अति उज्वल तन स्याम न होइ गिरा गंभीर अभंगा।।
चटकनि घट नव बिसद विमल कल वारिधि लेत तरंगा।
(जै श्री) हित सुखलाल हित सुख झकझोरै सेवक पथ चल चंगा।।

— गोस्वामी श्रीहित सुखलाल जी

(२१)

सेवक गावौ सेवक बानी।
जो सेवक ह्वैवे की श्रद्धा अपने चित में आनी॥
उपजत है अनुराग श्रवन सुनि नैंन चलति है पानी।
दम्पति प्रीति रीति की महिमा जामें प्रगट बखानी॥
उर आवत अति प्रेम पढ़े ते भूलै नेम कहानी।
हित हरिवंश कृपा बिनु काहू 'रसिक मुकुन्द' न जानी॥

— श्री रसिक मुकुन्द जी

(२२)

मन रमि सेवक पदनि उपासे।
जिनके मुख ते द्रवत निरन्तर हित जस हरिवंश विलासे॥
उमड़ि चलै हरिवंश प्रेम के वारिधि ह्रद अनियासे।
या रस रसिक उपासिक विरले पोषत 'रसिका दासे'॥

— श्री रसिकदास जी

(२३)

श्रीसेवक जी की बानी अति आदरणीय कथन है। कैसे?

जैसे बड़ेन की व्याख्या कौ भाष्य कहैं हैं ता पाछैं जो व्याख्या करै, सो टीका कहावै, ताकी व्याख्या करै सो टिप्पणी कहावै। ऐसैं श्री सेवक जू नें श्रीहित जू कौ स्वरूप सिद्धान्त अवतार सो पूजन नन्दनन्दन जानि पूर्ण विस्वास के बल सौं सब अवतारन के कारन समुझि पुनि श्रीहित जू के प्रगट प्रकास अप्रगट प्रकाश इहि जान्यौ। हित जू कौ भाव स्वरूप जान्यौ। आचारज रूप जान्यौ। गुरू रूप, हित रूप, वंशी रूप, सेवा रूप जान्यौ। हित जू कौ सेवन द्वै प्रकार जान्यौ। एक साधन रूप सौं करि सेवन करौ। एक सिद्ध स्वरूप करि सेवन करौ। अरु सिद्ध देखिकै स्वरूप सबनि कौ

सेवन रूप भाव पूर्वक करै। साधन तौ श्रवन द्वारा सिद्धान्त सब स्वरूप कौं समुझि करि सेवन करै। सो स्वभाव पूर्व वाकौ स्वभाव स्वभाव ह्वै गयौ। इतनी बात जामें होय अरु औरहू बहुत है समुझवे में आवै नाहीं। तातें श्री सेवक जी की बानी भाष्य है ता पाछे जे बर्नन भये ते हरिवंश-चरित्र कहाये। हरिवंश-स्तुति, हरिवंश-विलास, हरिवंश-भाव।। इति।।

– श्री वल्लभदास जी

(२४)

हमारे परिपूरन बल सेवक बैन।
जिनसौं तन मन प्रान पुषत हैं श्रीहरिवंश श्रवत रस ऐंन।।
कोमल मधुर ललित पद श्रैनीं समुझाई हित गिरा गति गैंन।
श्रीहरिवंश सच्चिदानंद रूप तन वन संपति कारन हित पैंन।।
देह नेह अति मंगलकारी भन्यौ सार सुख हित हित दैंन।
सब सिद्धान्त सार मथि भाख्यौ पी सहचरि सुख सेवक बैंन।।

– श्री सहचरि सुख जी

(२५)

श्रीसेवक हित रस मथि थाप्यौ।
अपने प्रान आह आस बल कौन सिंधु तें लायौ।।
तन मन दसा ज्यौऽब न्यारौ ह्वै अति अगाध बुड़ायौ।
हित रिझाय अकुलाइ हियें भर्यौ उछल आइ गटकायौ।।
उदय होइ कै गोप्य भयौ हो सकृतै नाँहि सुहायौ।
भरि आवेस तमकि भरि बेसहिं बाँटत हित सब ज्यायौ।।
अकह अगह हित बाँकौ दुर्गम दुर्लभ सुलभ बहायौ।
'अनन्य अली' अविवेकिनु परसत सेवक उर न रमायौ।।

– श्री अनन्य अली जी

(२६)

श्री वैयासकि नाद नंदन गिरा वंदनि ये।
श्रीहित स्वरूप प्रदीप जै हित सेवक भजे॥
दिव्य गुणं सर्व भनितं गुण ललितं ये।
सलितं हित घन मूर्त्ति जै हित सेवक भजे॥
धुज धर्म धीर गंभीर हित मर्मी ये।
रसिकनि भूषण हार्द जै हित सेवक भजे॥
मत्त मंगली विमलं मुख कमलं ये।
हित हित द्रव मकरंद जै हित सेवक भजे॥
श्रीहरिवंश रसामृत पानं विश्व दानं ये।
मनोहार्द्र अस पोष जै हित सेवक भजे॥
हरिवंश सुयश रस गायं हित ध्यायं ये।
अघटं मुदित मराल जै हित सेवक भजे॥
श्रीहरिवंश अंघ्रि रज धारं भव पारं ये।
वंश विंद नाद ओप जै हित सेवक भजे॥
हरिवंश केलि हृद दत्तं उनमत्तं ये।
षट पद हित रस लीन जै हित सेवक भजे॥
सकृत प्रनय मय सुहृदं हित दुरदं ये।
चित 'जदिवल्लभ' विश्राम जै हित सेवक भजे॥

— श्री यदिवल्लभ जी

(२७)

हरिवंश रसासव गटक कूँ दृढ़ अटक कूँ ये।
उत्कट व्रत गति हंस जै रति सेवक नमो॥
अनुराग भरी हित गावनि झरि आवनि ये।
हित रंग निधि झिले बैंन जै रति सेवक नमो॥

हित धर्म सिखायक नायक रति दायक ये।
हरिवंश हरिवंश प्रान जै रति सेवक नमो॥
हरिवंश स्वरूप दृढ़ थापक हित जापक ये।
श्रवत सिंधु हित सार जै रति सेवक नमो॥
धर्म जहाज सब तारक हित कारक ये।
हित हित हित मधि बोर जै रति सेवक नमो॥
हरिवंश सुधा दै सींचक हित दीपक ये।
जनित प्रेम हित धार जै रति सेवक नमो॥
प्याय सुहित उर बेधक पाहि छेदक ये।
रोम रोम हित पोष जै रति सेवक नमो॥
हरिवंश सुरस विलसायक मति दायक ये।
हित गुन कुसल अपार जै रति सेवक नमो॥
हरिवंश कौ भोग भुगायक उर लायक ये।
बलि जै कृष्ण अनन्य जै रति सेवक नमो॥

— श्री जयकृष्णदास जी

(२८)

श्रीहरिवंश सुरस स्वाति धारा गटक गटक जग कीच मचाई।
नीरस विश्व हुतौ सब हित बिनु जंतु सकल हित रासि सँचाई॥
मिष्ट श्रमी हित सो कोउ नाँहीं तो सो न स्वादिल चातिक लचाई।
सुख सार अबोलनों पी 'हरिजी हित' सेवक रति रँग हार्द सचाई॥

— श्रीहित हरिजीमल जी

(२९)

जयति जयति हरिवंश नाम रति सेवक बानी।
परम प्रीति रस रीति रहसि कलि प्रगट बखानी॥

प्रेम संपती धाम सुखद विश्राम धरम्मिनि।
भनत गुनत गुन गूढ़ भक्ति भ्रम भजत करम्मिनि।।
श्रीव्यासनंद अरविंद चरन मधि तासु रंग रस राचहीं।
श्रीकृष्णदास हित हेत सौं जे सेवक बानी बाँचहीं।।

— भावना परायण श्री कृष्णदास जी

(३०)

मधुर सेवक अली वदन अति मधुर है,
मधुर अति नैंन मधु अधर मधु हँसनि है।
मधुर अति बैंन हैं मधुर अति हृदय है,
मधुर अति गवन धन मधुर हित गँसनि है।।
मधुर अति चरित है मधुर अति वसन है,
मधुर हित मिलन रमि मधुर अति लसनि है।
मधुर हित पान है मधुर छकि गान है,
मधुर अति रूप सिंगार मधु दसनि है।
मधुर हरिवंश धन मधुर सेवक धनी,
मधुर हरिवंश फल सेवक मधु रसनि है।
मधुर सेवक दृष्टि है करत हित वृष्टि है,
पुषत प्रेम दासि हित मधुर पद असनि है।।

— श्रीहित प्रेमदास जी

(३१)

वन्दौं सेवक सुमति सार श्रुति उद्धर्यौ।
जो दरस्यौ हित रूप सु रसना उच्चर्यौ।।
तारातनय उदार अनुग्रह अति कर्यौ।
लखि गरुवौ अनुराग सीस कर वर धर्यौ।।

धर्‌यौ करवर सीस प्रभुता दई सब दरसाइ कैं।
लह्यौ परम प्रसाद जो सो कहा सुनाऊँ गाइ कैं।।
अनुभव जनित प्रगटी गिरा गुन गुपति कथि संसै हर्‌यौ।
वन्दौं सेवक सुमति सार श्रुति उद्धर्‌यौ।।१।।
श्रीहरिवंश सुनाम धरी दृढ़ टेक है।
सेवक सम सेवक ही जग में एक है।।
सबल भक्ति उर बाढ़ी सहित हुलास जू।
गुरु करुना उपजाइ बुलाए पास जू।।
पास आये भक्ति बस प्रभु भृत्य चित चीत्यौ कियौ।
कुंज रस वैभव दिखाई कौन अस समरथ वियौ।।
धर्मी अरु धर्म स्वरूप पुनि पुनि कह्यौ सहित विवेक है।
जै जै श्री (सेवक) श्रीहरिवंश सुनाम धरी दृढ़ टेक है।।२।।
सेवक खेवक धर्म विदित कल बाँकुरौ।
पद रति श्रीहरिवंश न दूजौ आँकुरौ।।
गुरु गोविन्द उभय वपु सब ग्रंथनि कह्यौ।
गुरु ही में गोविन्द एक सेवक लह्यौ।।
लह्यौ दृढ़ व्रत गह्यौ महिमा महत सो बरनौं कहा।
कानन रहसि मरमिन अलिन जहाँ मिथुन सुख बिलसैं महा।।
एक रस संतत सदा छिनहूँ न परै रस झाँकुरौ।
सेवक खेवक धर्म विदित कल बाँकुरौ।।३।।
सकृत रीति कौ भेद सु सेवक ही लह्यौ।
वंश बिना हरि नाम न जिहिं रसना कह्यौ।।
धर्मी मर्मी गाढ़ौ सोई बूझि है।
श्री हरिवंश कृपा बल ताही सूझि है।।

सूझिहै परम अनन्य पद्धति जो चल्यौ हित रीति है।
उर फुरै नव-नव भाव सेवक सम जु जाके प्रीति है।।
सपथ करिकैं नाम श्रीहरिवंश जिन गाढ़ें गह्यौ।
सकृत रीति कौ भेद सु सेवक ही लह्यौ।।४।।

कहनि रहनि सम तूल धन्य सेवक भयौ।
व्यास सुवन जस निर्मल बरनौं नित नयौ।।
सारासार विवेक कियौ उहिं ठौर कौ।
हियौ सिरायौ जिननि रसिक सिरमौर कौ।।

हियौ सीतल कियौ दंपति तहाँ की संपति भनी।
हित अलि लड़ावति दुहुँनि कौं नव कुंज बिहरत धन धनी।।
वृन्दावन हित रूप श्रीहरिवंश रीझि सुधन दयौ।
कहनि रहनि सम तूल धन्य सेवक भयौ।।५।।

हित मारग पहुँच्यौ निवटि सेवक हित बाँकौ।
व्रत अनन्य धरि सुभट दृढ़ कियौ परन न झाँकौ।।
सकृत रीति मर्मी सुविधि गह्यौ गाढ़ौ नाँकौ।
श्रीहरिवंश सुनाम रति बज्यौ आनक डाँकौ।।
धर्म कसौटी पर लस्यौ कुंदन बिनु टाँकौ।
गुरु में हरि पूरन लखै कियौ इहिं कलि साँकौ।।
टेक नाम हरिवंश इक नहिं दूजौ आँकौ।
सपथ करी मन-क्रम-वचन बल हित पथ घाँकौ।।
कुंज गगन अंबुद उभै झर रूप सुधा कौ।
वृन्दावन हित रूप बलि चात्रिकी तहाँ कौ।।

सेवक सुमति प्रकास रूप हित कौ निजु दरस्यौ।
बानी भई उदौत उमगि रसना रस बरस्यौ।।

भक्ति रहसि जे ग्रंथ सार तिनकौ जिन गायौ।
आसै उदधि गँभीर पार काहु सुकृती पायौ॥
बलि वृन्दावन हित रूप पथ जो सेवक बचननि उर धरैं।
तौ अक्षर-अक्षर अरथ बिनु मिलि धर्मिनु यह निरनौं करैं॥

धर्मिनि छेदी संस वंश जुत हरि मन अटक्यौ।
एक टेक निजु धरी आँन धर्म तुस ज्यौं फटक्यौ॥
जो गुरु धर्म अनन्य रीति सेवक सम धारै।
अनुभव खुलैं कपाट इष्ट निज रूप निहारै॥
आसक्ति बिना अति दूर प्रभु सुनि करि कोटिक उपचार मन।
भनि वृन्दावन हित रूप बलि श्रीसेवक सम सेवक जु धनि॥

धुरवा जलद अनूप घमड़ि धर्मिनु हित आयौ।
बरषि नाम हरिवंश अवनि उर तपत सिरायौ॥
उलही बेली भक्ति भाव सुख प्रेम फली है।
जुगल चरन तरु लपटि देत सोभा जु भली है॥
जयति जयति सेवक सुमति अरु बंदौं हित पथ तासु पद।
भनि वृन्दावन हित रूप बलि जिन दरसाई हित कृपा हद॥

हौं बलि रसिक किसोर रंग मूरति जु स्याम की।
रूप भीर की हद विपिन राधा सु धाम की॥
तिन बीथिनु मन रम्यौ देखि कौतिक अति भारी।
सोइ संपति श्रीहरिवंश सुमति सेवकजु विचारी॥
तब धनी लाल चितु बितु दियौ अरु मन कुंजर चहलें पर्‍यौ।
भनि वृन्दावन हित रूप बलि आनक बजाइ दृढ़ व्रत धर्‍यौ॥

— चाचा श्रीहित वृन्दावनदास जी

(३२)

सकल आनंद कल गर्ज सेवक दयौ।
पर्त्त है भरन हरिवंश हरिवंश हित
पिबत मन मगन चित सघन शीतल हयौ।
रुचिर किंजल्क अरविंद मुख माधुरी
कनिका रसनि श्रव प्रनय प्रेम हित नयौ।
श्रीतुलसी प्रताप बल चषक लोचन कियें
गटक अलि भोरी हित सेवक पथ पन लयौ॥

—श्रीहित भोरी सखी जी

(३३)

अक्षर चार विचार सार श्रुति मंत्र दृढ़ायौ।
हरि गुरु कौं एकत्र प्रगट बानीं करि गायौ॥
धर्म अनन्य प्रकास जगत में डंकौ दीनौं।
भव खंडन हरि नाम वंश बिनु कबहुँ न लीनौं॥
श्री सेवक बानी विदित नित प्रति चिल मंगल करन।
हितदास सदा जाँचत यही हियें बसौ भोरी चरन॥

—श्रीहित हितदास जी

(३४)

निगम सार सिद्धान्त भनी श्रीसेवक बानी।
परम तत्व हरिवंश रहसि रस रीति बखानी॥
जुगल जाप निज नाम सुखद निश्चै करि गायौ।
व्रत संजम फल तुच्छ चाह संदेह नसायौ॥
चित प्रेम भक्ति पद पद श्रवत पाठ मननि आनंद भर।
हित वृन्दाविपिन विहार छबि निरखै नित हितदास वर॥

—श्रीअगरवन वासी श्रीहितदास जी

(३५)

रोम रोम मयी हितहिं परायन प्रेमा पदवी पाई।
धर्म नींव हित व्रतधारी प्रगट्यौ चौखूँट खेरा पाई।।
औघट घाट श्रीव्यास सुवन पथ जिग्यासी हौं पाऊँ।
करौ कृपा सेवक प्रिय मोपै कमल संगी सिर नाऊँ।।
हौं ढ़ाढ़िन अजाचक भई जाचक तुव प्रसाद कनूका पाऊँ।
दिये न लैहौं चौदह लोक सुख इनही पद-रज ध्याऊँ।।
आज बधाई पाऊँ सेवा भीतरी जनम जनम जस गाऊँ।
रज में देह मिलौ प्रिय पहलें व्यास सुवन पद पाऊँ।।
इन रसिकनि की बाँदी 'आनंदी हित' बिनु मोल जु आनी।
महा प्रसाद कृपा दृष्टि की पारी हित लाड़िले मन मानी।।

—श्रीहित आनन्दी बाई जी

(३६)

जयति वैयासिके रसिक हरिवंश जू आज वर्द्धे अवनि नाद वंशे।
हृद गौरांग संपुट मनिर्हित सुहित सेवक ह्वै भेव संश्रित प्रसंशे।।
जयति रव गिरा उर भाय उझल्यौ निकर तनौं चित मनौं असु हितवतंशे।
हरिवंश सौंदर्य आकृति माधुर्य गुन भर्‍यौ हृद विश्व सेवक सुहंसे।।

—श्रीप्रियादास जी

(३७)

जैसे तैसे जो कहै एक बार हरिवंश।
पाँयन माथौ दै रहै छिन छिन करत प्रसंस।।
कपट रूप हरिवंश कौ हाँस हेत धरि आवै।
पद रज में लोट्यौ करै बार बार सिर नावै।।
अँसुवन धारा यौं चलै ज्यौं पिचकारी जान।
सेवक की गति जो भई कैसें करौं बखान।। इत्यादि

—गोस्वामी श्री रसिक शिरोमणि लाल जी

(३८)

जै जै श्री सेवक निज श्रीहरिवंश के।
श्रीहरिवंश अधार सु नित व्रत हंस के।।
जिनके श्रीहरिवंश सु जीवन मूरि हैं।
यह प्रतीति करि हित गुरु आसा पूरि हैं।।
पूरि आस प्रतीति की हित गुरु कृपा करि आइ कैं।
इष्ट धर्म प्रताप मंत्र स्वरूप दियौ दरसाइ कैं।।
सेवक भये हरिवंश जू के राधिका निज अंश के।
जै जै जै श्री सेवक निज श्रीहरिवंश के।।

—श्रीहित परमानंददासजी

(३९)

दंपति केलि रसाल वृंदावन प्रेम प्रवाह अथेवक।
ये गहरे रस की भँवरी सखी मीन अगाध लगै नहिं थेवक।।
जहाँ हरिवंश कौ नाम जहाज अनन्य तरैं वर कोविद खेवक।
एकहिं घाट उतारन कौं जग सेवक सो नहिं दूसरौ सेवक।।

—श्रीहित हरिलाल जी 'व्यास'

(४०)

व्यासनंद तारा तनय द्विज कुल कुमुद प्रसंस।
सेवक बानी शब्द प्रति झलमलात हरिवंश।।
झलमलात हरिवंश माल दामोदर उर की।
डार दई भव सिंधु नाव निज कुंज महल की।।
नागरीदास सँग बहु गये टेक धरी प्रियादास।
भोरी से बहुतक मलिन अपनाये सुत व्यास।।

हित मर्मिनु रचे थार ताहि नहिं छुवत अभागे।
चूरन कीरच पिसी सुखा कैं पीसन लागे।।
दया लागि भोरी कही काहे बन्यो न खात।
कलपनि लगि ऋषि मुनि तपे फिर हूँ गहे न पात।
फिर हूँ गहे न पात बुद्धि तेरी बौरानी।
तन मन सक्ती छाँड़ि मूढ़ गहि सेवक बानी।।
पिय प्यारी उमगे उदधि हरिवंशचन्द्र प्रगट्यौ अमित।
मंदिर वल्लभ राधिका जगमगात हरिवंश हित।।

—श्रीहित भोलानाथ–भोरी हित जी

(४१)

परम धर्म हरिवंश कौ सेवक खोली गंस।
सुपने संपति दई गुरुनि सो प्रगट बखानी।
श्रीमुख कौ निरधार सार रस सेवक बानी।।
प्रिया प्रेम रस ढरी सुनौ प्रीतम अभिलाखैं।
हित प्रताप विस्तरैं सोई सेवक ह्वै भाखैं।।
प्रिया हिलग पूरी करन प्रीतम करी प्रसंस।
परम धर्म हरिवंश कौ सेवक खोली गंस।।

— श्रीहित गोविन्द अलि जी

(४२)

श्रीसेवक महं वन्दे हरिवंश प्रकाशकम्।
सुधर्म हित तत्वं च प्राकट्यं भास्करं यथा।।

रसिक मिलि गावत आजु बधाई।
इत माधौ उत भाँदौं मास बिच सावन तीज सुहाई॥
फूलनि झूलनि में ये फूलनि प्यारी के उर आई।
उदै होइ हित सजनी कौ जस सेवक अलि प्रगटाई॥
प्रिया हिलग मन की यह मूरति प्रीतम अलिगन भाई।
सुनत गिरा जाकी खग मृग बन पिय प्यारी हरषाई॥
अति अगाध रस सिंधु माधुरी व्यास सुवन दुलराई।
तहाँ भँवर रस गहर ठहर नहीं रसिकनि मति अकुलाई॥
तिनहिं मीन गति सिखबन कौं यह सेवक अलि चलि आई।
श्रीहरिवंशी नाम गिरा गहि निधरक बिलसहु भाई।
राधावल्लभ तेरह दिन लौं यह फूलनि दरसाई॥
ब्रज बन वनिता नारि सकल जग भूलि फूलि सरसाई।
वेद-पुरान शास्त्र तंत्रनि मथि भाषा गिरा बनाई॥
गुरू सरन तिनके मन हरनी सबकौं सुमति दृढ़ाई।
धर्म मर्म रस रीति गूढ़ अति प्रगट सु दई दिखाई॥
श्री सेवक हित नाम धनी जै निज दासी बलि जाई॥

— श्रीहित लाड़िली दास जी

(४३)

सेवक श्री हरिवंश के निज दामोदर दास।
सुहृद गम्य बानी भनी अनभै प्रेम प्रकास॥
सुहृदी सो सोधैं सुविधि अनवधि सरस समान।
अहं मेव मानैं न मन 'सब सुख' दान सुजान॥

सेवक श्री हरिवंश हैं सेवक स्यामा स्याम।
सेवक सेवा सेव्य सब जल तरंग वत नाम।।

–श्रीसर्व सुख दास जी

(४४)

हित कौ लाड़ लड़ायौ नीकें हित कौं ध्यायौ।
हित बिनु और न गायौ बरवस हित प्रगटायौ।।
हित कौ मिहीं स्वरूप गिरा मधि प्रगट बतायौ।
हित कौ बाँकौ पंथ कृपा करि ताहि जतायौ।।
हित धर्म सूर साँचौ सकृत श्री सेवक की सर को करै।
हित चरन कमल मकरंद कौ मधुप भयौ हित उच्चरै।।

–श्रीहित किशोरी शरण जी 'अलि'

(४५)

उमग्यौ हिय हेत रह्यौ न गयौ,
पलटौ बिनु लीयें हियौ अकुलावै।
स्वामिनि शिष्य स्वरूप धर्यौ,
गरुवौ अनुराग कहा न करावै।।
हरुवौ हरि वंश बिना न कह्यौ,
कछु सेवक बानी में दरसावै।
'ध्रुव' अल्पमती न रती करिहैं,
हित पंथ मिहीं बिरलौ कोऊ पावै।।

–श्रीहित ध्रुव अलि शरण जी

(४६)

दामोदर उर उदर दाम इक अति सै सुंदर।
श्रीहरिवंश सुनाम विदित जग रसिक पुरंदर।।
दंपति वन अलि सुमिलि चार वपु चारि वरन वर।
प्रान हारि कै कंठ हार करि, हिय संपुट धर।।
कृपा प्रेम आनंद युत कुंजी नित्य बिहार की।
नेहलता हित देन यह सेवक परम उदार की।।

–हितदास

''रसिक–पद–रेणु''

(४७)

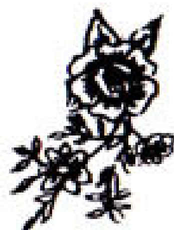
वन्दौं सेवक पद अरविंद।
जे हैं बसत हियें प्रीतम के दाता पूरन प्रेमानंद।।
भव बाधा मेंटत सुमिरत ही नासत माइक अघ दुख द्वंद।
दास चतुर्भुज हित हिय कानन बिहरौ ये दोउ चरन स्वच्छंद।।

जौ सेवक अवतरित न होतौ।
तौ श्रीहित हरिवंश चंद्र कौ यस–विस्तारक को तौ??
काके बल हित नाद–बिंदु कुल हित रस मारग जोतौ।
दास चतुर्भुज हित सेवक बिनु को जु जरनि जिय खोतौ??

प्रेम भर्‍यौ जाकौ हियौ धर्मिनु माँझ प्रधान।
सो सेवक रिझवार अति मेरौ जीवन प्रान।।
बड़ौ भजन विस्वास है कह्यौ विहारिनदास।
कर्‍यौ चतुर्भुज दास हित सेवक कौ विस्वास।।

सावक सेवक सिंह कौ भूल्यौ श्रीवन माँहिं।
भूँखौई मरिहै भलैं पै तृन चरिहै नाहिं॥
हे हित मुख अरविंद के अति मिठ बोल मिलिंद।
पूरि दियौ भू पर विसद हित मुख कौ मकरंद॥
एक भरोसौ एक बल एक आस इक प्यास।
जयति चतुर्भुज दास हित सेवक सुजस मिठास॥

–श्रीहित चतुर्भुज दास जौ पाठक



रसिक अनन्य प्रधान सतु साधु मंडली मंडनो जयति



रस-रीति प्रकाशक, रसावतार, वंशी स्वरूप

श्री हित हरिवंश महाप्रभुपाद

प्राकट्य - संवत् १५५९ वैशाख शुक्ल एकादशी, सोमवार।

निकुँज गमन - संवत् १६०९ शरद पूर्णिमा।

मङ्गलाचरण

स्फुरद्वदन पङ्कजः कनककूट देहद्युतिः,
प्रशस्त सुख सम्पदां निधिरपूर्व मान प्रदाः।
सकृष्ण वृषभानुजा चरण माधुरी चञ्चुरः,
सदा मधुर बाक् पटुर्जयति साधु वैयासकिः।।

वन्दे तारा तनयमुदारम्।
आगम निगम अलक्ष्य अगोचर,
प्रगटित विशद सुविपिन विहारम्।।
रसिक सभा मंडन रस भूषन,
निज हित रीति प्रीति विस्तारम्।
श्री राधा रति केलि कुंज रस,
रसिक अनन्य वहन रसभारम्।।
निरभिमान करुना-वरुनालय,
आरत सरनागत प्रतिपारम्।
'नेहलता हित' देहि दयामय,
निज पदपल्लव रसघन सारम्।।

— स्वामी हितदास

॥ श्रीसेवक महं वन्दे ॥

वन्दे सेवक स्वामिनि रूपम्।
करुना-बपु धरि परम कृपा करि,
प्रकट कियौ हरिवंश स्वरूपम्॥
अविगत गति दुर्लक्ष्य सबनि तें
प्रगटौ मो हिय रूप अनूपम्।
'नेह लता' दामोदर सुन्दर,
द्रवौ बेगि सह रसिक सुभूपम॥

-स्वामी हितदास

श्री सेवक महं वन्दे श्री हरिवंश प्रकाशकम्



श्री हितनाद कुलभूषण, राधिकावतार, श्री हित रस रीति के प्रथम भाष्यकार – श्री दामोदर दास जी

"सेवक जी"

॥श्रीहित राधावल्लभो जयति॥
॥ श्रीहित हरिवंश चन्द्रो जयति ॥

श्रीहित सेवकवाणी-टीका

भावार्थ एवं टिप्पणी सहित

श्रीहित जस-विलास

(प्रथम प्रकरण)

पूर्व परिचय-

इस प्रकरण में श्री सेवक जी ने श्रीहित-हरिवंश चन्द्र के व्यापक स्वरूप का परिचय दिया है इसीलिये वे इसका नाम 'यश-विलास' रखते हैं। श्रीहित हरिवंश चन्द्र केवल एक रसिकाचार्य ही नहीं अपितु वे चराचर व्यापी प्रेम- हित तत्व भी हैं। यह सारा ऐश्वर्य-पूर्ण विलास एवं दृश्य प्रपञ्च उन्हीं का एक रूप है। वे वृन्दावन में लता, गुल्म, तृण, वीरुध, नदी, वन अनेक रूपों में हैं। वे सखा, सखी और युगल किशोर के भी रूप में हैं। इस प्रकार उनके जन्म, कर्म, गुण और रूप अनन्त हैं। वही आचार्य रूप हैं और वही शिष्य रूप। जब जब विश्व कल्याण की आवश्यकता होती है यही हित (प्रेम) भूतल पर विभिन्न-विभिन्न नामों से अवतरित होते हैं, और जीवों के अलग-अलग अधिकारों के विचार से उन्हें भक्ति का उपदेश देते हैं। किं बहुना? वृन्दावन का नित्य-विलास भी इन्हीं का रूप है। हितरस के अपार समुद्र में जो लहरियाँ उठती हैं वही मानो नित्य-विहार की रसमयी लीलाएँ हैं।

अब सामान्य वर्णन द्वारा रूपक शैली से सेवक जी अपनी अनन्त भावमयी, अर्थमयी एवं रसमयी वाणी का प्रकाश 'श्रीहरिवंश चन्द्र शुभ नाम' इस मंगलाचरण से प्रारम्भ करते हैं, क्योंकि इनके इष्ट-आराध्य

युगल किशोर नहीं वरं युगल किशोर के भी इष्ट प्रेम देवता हितावतार श्रीहरिवंश चन्द्र हैं।

मूल- (१)

श्रीहरिवंश-चंद्र सुभ नाम,
सब सुख-सिंधु प्रेम रस धाम।
जाम घटी बिसरै नहीं॥
यह जु पस्यौ मोहि सहज सुभाव,
श्रीहरिवंश नाम रस चाव।
नाव सुदृढ़ भव तरन कौं॥
नाम रटत आईं सब सोहि,
देहु सुबुद्धि कृपा करि मोहि।
पोइ सुगुन माला रचौं॥
नित्य सुकंठ जु पहिरौं तासु,
जस बरनौं हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥

भावार्थ- (श्रीहित दामोदर 'सेवक जी' कहते हैं)- अहो 'श्रीहरिवंश चन्द्र' यह ऐसा पवित्र नाम है, जो सब सुखों का समुद्र और प्रेम रस का (एक मात्र) धाम है, (इसीलिये मुझे) यह घड़ी पहर के लिये भी नहीं भूलता। इसका सतत् स्मरण मानों मेरा सहज स्वभाव बन गया है। श्री हरिवंश नाम और श्रीहरिवंश रस के प्रति चाह-चौंप ही सुदृढ़ संसार (आवागमन) से पार होने के लिये नौका (नाव) है। इस नाम के रटते रहने से वह सब (नित्य विहार-रस) हृदय में आ गया किंतु हे श्रीहरिवंश चन्द्र! अब आप कृपा करके मुझे सुबुद्धि दीजिये, जिससे मैं आपके सद्गुणों की सुन्दर माला पिरोऊँ और उसे सदा अपने कण्ठ में पहिनूँ।

हे प्रेमियों! मैं (इस प्रकरण में) श्रीहरिवंश यश का विलास वर्णन करता हूँ और श्रीहरिवंश का ही अंत तक गान करुँगा।

टिप्पणी-

नाव सुदृढ़ भव तरन कौं।

इस पद का सरल अर्थ यह है कि यह श्रीहरिवंश नाम सुदृढ़ नौका है संसार से पार होने के लिये। किन्तु यदि 'भव' शब्द का विशेषण 'सुदृढ़' मानलें, तो इस का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है-यह श्रीहरिवंश नाम सुदृढ़ भव से पार होने के लिये नौका है।

तब तात्पर्य यह समझें कि भव-अर्थात् जन्म मरण से छूटने के लिये तो भगवन्नाम हैं और वे अनन्त हैं, किन्तु सुदृढ़-भव से छूटने के लिये केवल एक श्रीहरिवंश नाम ही है। वह सुदृढ़ भव क्या हैं? उसके उत्तर में कहा जाता है कि वे सुदृढ़ भव हैं वैकुण्ठ गोलोक आदि भगवद् धाम क्योंकि उन धामों में पहुँचकर जय-विजय का पतन होता है और श्रीराधा एवं श्रीदामा में भी परस्पर शाप-अभिशाप। पश्चात् जय विजय श्रीराधा श्रीदामा आदि को भी भूतल में आना पड़ता है। भव का अर्थ ही है, जहाँ आवागमन है। जब गोलोक और बैकुण्ठ में भी आवागमन है तो वे भव लोक हुए और सुदृढ़ इसलिये कि सबसे महत्तम हैं इसलिये समस्त जीवों के लिये विशेष प्रलोभनमय हैं।

अब प्रश्न हो सकता है कि श्रीहरिवंश नाम से कौन सा लोक या धाम मिलता है जहाँ आवागमन का भय नहीं?

इसका उत्तर यह है कि यह श्रीहरिवंश नाम स्वयँ प्रेममूल है। इस मूल का विस्तार है श्रीवृन्दावन का नित्य विहार जो अनादि अनन्त है। जिसे प्राप्त करके फिर आवागमन नहीं होता। जिस प्रकार वेदान्त शास्त्र के अनुसार कैवल्य मोक्ष के पश्चात् जन्म-मरण नहीं रह जाता। वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्म ही हो जाता है। ठीक उसी प्रकार इस हित

सिद्धान्त में भी हित तत्व का ज्ञाता हित को जानकर हित-रूप हो जाता है। 'प्रेमविद् प्रेमेव भवति'। उस हित तत्वज्ञ के लिये आवागमन मिटकर एक रस अद्वितीय वस्तु प्रेम ही प्रेम—केवल हित विलास क्रीड़ा ही रह जाती है।

(ii) **नाम रटत आईं सब सोहि-**

'श्रीहरिवंश नाम को रटते हुए मेरे समीप समस्त शोभाएँ आगयीं।' प्रश्न होता है कि जब सब शोभाएँ आ गयीं तब 'देहु कृपा करि बुद्धि प्रकाश' ऐसा कहकर बुद्धि माँगने की क्या आवश्यकता? क्या बुद्धि सब शोभाओं के अन्तर्गत नहीं है?

इसका उत्तर यह है कि अव्यक्त, अमृत रूप अनिर्वचनीय हित तत्व का वर्णन करने के लिये साधारण बुद्धि से काम न चलेगा, अत: आप अपनी निज-बुद्धि अर्थात् प्रेम रूपा प्रज्ञा दीजिये, जिससे मैं आपके स्वरूप का वर्णन करने में समर्थ हो सकूँ। इसीलिये यहाँ पर बुद्धि का प्रकाश माँगा गया है।

मूल- (२)

श्रीवृंदावन वैभव जिती,
बरनत बुद्धि प्रमानौं किती।
तिती सबै हरिवंश की॥
सखी सखा क्यौं कहौं निबेर,
तौ मेरे मन की अवसेर।
टेर सकल प्रभुता कहौं॥
हरि हरिवंश भेद नहिं होइ,
प्रभु, ईश्वर जानैं सब कोइ।
दोइ कहैं न अनन्यता॥

विस्वम्भर सब जग आभास,
जस बरनौं हरविंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं।।

भावार्थ–

श्रीवृन्दावन का जितना कुछ वैभव (विस्तार) है, वह सब श्रीहरिवंश का ही वैभव-विस्तार है जिसका मैं (इस ग्रन्थ में) वर्णन कर रहा हूँ। उसके (समर्थन में) कितने क्या प्रमाण दूँ? नहीं दे सकता। (वृन्दावन विलास में) सखी और सखा ऐसे (भेद पूर्वक) अलग-अलग करके कैसे कहूँ? यदि कहूँ तो यह मेरे मन की अज्ञता ही होगी। अतः स्पष्टतया पुकार-पुकार कर कह रहा हूँ कि यह सब प्रभुता (वृन्दावन-लीला) उन्हीं की है–उन्हीं का रूप है। हरि और हरिवंश में कोई भेद ही नहीं है। जैसे जो प्रभु (नाम से) है, वही ईश्वर है यह सभी जानते हैं। यदि [इन दो नामों वाली एक वस्तु को अलग-अलग करके द्वैत-बुद्धि से] दो कह दिया जाय तो अनन्यता (सर्वत्र एक तत्व का दर्शन) नहीं है। और भी जैसे जो विश्वम्भर (अर्थात् सम्पूर्ण विश्व का भरण-पोषण करने वाला विष्णु भगवान् सगुण ब्रह्म) है, वही सारे संसार में आभासित भी है (अर्थात् निर्गुण निराकार रूप से व्यापक ब्रह्म भी है। इसी प्रकार श्रीहरिवंश ही सगुण निर्गुण सब रूपों में प्रकाशित हैं।) अतः मैं उन्हीं सर्व रूप श्रीहरिवंश के यश-विस्तार का एवं उनका वर्णन करूँगा–गान करूँगा।

टिप्पणी–

इस सम्पूर्ण छन्द में श्रीहरिवंश के व्यक्त एवं अव्यक्त प्रेम रूप का लक्ष्य कराया गया है कि वे प्रभु अर्थात् स्वामी रूप से और ईश्वर अर्थात् शासक रूप से दो कहे जाकर भी एक ही हैं। केवल ये दो स्थितियाँ हैं उनकी। यह सम्पूर्ण वृन्दावन-वैभव उन्हीं का रूप है। यहाँ

सखी सखा ही क्या लता, तृण, पशु, पक्षी सब उन्हीं के रूप हैं; जैसे एक ही खाँड़ के विभिन्न खिलौने। उसी प्रकार एक प्रेम तत्व श्रीहरिवंश के ये नाना रूप एवं नाम हैं।

एक ही ब्रह्म जैसे सगुण एवं निर्गुण दो नाम एवं रूपों में कहा, सुना और समझा जाता है, उसी प्रकार एक हित तत्व-श्रीहरिवंश ही विश्वम्भर विष्णु और व्यापक ब्रह्म दो रूपों में है। तब यदि हम श्री हरिवंश के अतिरिक्त और भी कोई भिन्न तत्व स्वीकार करते हैं तो अद्वैत–प्रेमाद्वैत के सिद्धान्त से पतित होकर द्वैत में आ गिरते हैं। हमारी अनन्य निष्ठा भंग हो जाती है; क्योंकि अनन्यता का यही अर्थ है कि जहाँ अन्य न हो, एक ही हो। जैसा कि श्रुति वाक्य है-

'सर्व खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।'

अर्थात् 'यह सम्पूर्ण ब्रह्म ही है। यह नाना (अनेक) कुछ नहीं है।'

श्री सेवकजी के हित-सिद्धान्त के अनुसार यह दृश्य-अदृश्य समस्त विश्व प्रपञ्च एवं श्रीवृन्दावन का नित्य-विहार तत्व सब का सब श्री हरिवंश का ही रूप है उनके सिवाय और कोई है नहीं, वे ही नाना नाम रूपों में विद्यमान् हैं। यह देखना ही अनन्यता है।

मूल- (३)

जन्म कर्म गुन रूप अपार,
बाढ़ै कथा कहत विस्तार।
बार-बार सुमिरन करौं॥
हौं लघुमति जु अंत नहिं लहौं,
बुद्धि प्रमान कछू कथि कहौं।
रहौं सरन हरिवंश की॥
सो धौं कहि मोहि केतिक मती,
जस बरनत हारै सरसुती।
तिती सबै हरिवंश की॥

देहु कृपा करि बुद्धि प्रकास,
जस बरनौं हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं।।

भावार्थ–

(श्रीहरिवंश के) जन्म, कर्म, गुण एवं रूप अनन्त हैं–अपार हैं, सबका विस्तार कहते कथा बढ़ जायगी अतः (मन–मन केवल) उनका बारम्बार स्मरण ही कर लेता हूँ, क्योंकि मैं मन्द–बुद्धि हूँ। चूँकि उन सबका छोर–पता नहीं पा सकता फिर भी मैं अपनी (यथा तथा) बुद्धि के अनुसार कुछ कहूँगा। और उन्हीं श्रीहरिवंश की शरण में हूँ। भला, कहो तो मेरी ऐसी कितनी बुद्धि जो उनके सम्पूर्ण जन्म, कर्म, गुण, और रूपों का वर्णन कर सके? जिन का यश वर्णन करते स्वयँ सरस्वती (वाणी) भी हार जाती है। अतएव हे श्री हरिवंश! कृपा करके आप मेरी बुद्धि में (अपना स्वरूप) प्रकाश कीजिये जिससे मैं आपके यश–वैभव का विलास वर्णन कर सकूँ। रसिक जनो! मैं आद्यन्त श्री हरिवंश का ही गान करूँगा।

टिप्पणी-

(i) जन्म कर्म गुन रूप अपार–

श्रीहरिवंश व्यापक प्रेम तत्व हैं। प्रेम ही परमात्मा है; प्रेम ही सच्चिदानन्द घन ब्रह्म है। इस दृष्टि से भगवान् के नाना अवतार, आचार्यों, सन्तों, भक्तों और महात्माओं के समस्त अवतार (समष्टि दृष्टि से) श्री हरिवंश के ही अवतार हैं। यहाँ श्रीसेवक जी ने श्रीहरिवंश के उसी महान् स्वरूप, व्यापक तत्व को लक्ष्य में रखकर यह बात कही है।

(ii) जस बरनत हारै सरसुती–

इस अनन्त व्यापी श्रीहरिवंश के स्वरूप का पूर्णतया वर्णन कर देना, शेष, मेहश, गणेश और सरस्वती आदि सभी के लिये असम्भव

है। इसी भाव का प्रकाश करते हुए शिव महिम्न स्तोत्र में श्रीपुष्पदन्ताचार्य ने कहा है–

असित गिरि समं स्यात्कज्जलं सिन्धु पात्रे,
सुर तरुवर शाखा लेखनी पत्रमुर्वीम्।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्व काले;
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति।।

अर्थात् "हे भगवान्! आपके गुण-गणों को लिखने के लिये नील गिरि जैसी मसि (स्याही) समुद्र जैसे पात्र में रखकर देव-वृक्ष कल्प तरु शाखा की लेखनी बनाकर पृथ्वी जैसे विस्तृत पत्र पर शारदा स्वयं भी लिखना चाहे सो भी सर्व काल तक; तो वह भी आपके गुणों का पार नहीं पा सकती; नहीं लिख सकती उसे भी हताश होना पड़ेगा।"

जब स्वयं सरस्वती भी थकती है, हार मानती है, तब अन्य कोई कैसे आपका वर्णन कर सकता है? यहाँ यह बात श्रीहरिवंश के आचार्य रूप को लेकर नहीं, वरं व्यापक रूप को लेकर ही कही गयी है।

मूल– (४)

कलिजुग कठिन वेद विधि रही,
धर्म कहूँ नहिं दीसत सही।
कही भली कोउ ना करै।।
उदबस विश्व भयौ सब देस,
धर्म रहित मेदिनी नरेस।
म्लेच्छ सकल पुहुमी बढ़े।।
सब जन करहिं आधुनिक धर्म,
वेद विहित जानैं नहिं कर्म।
मर्म भक्ति कौ क्यौं लहैं।।

बूड़त भव आवै न उसास,
जस बरनौं हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥

भावार्थ-

उस समय (जब श्रीहिताचार्य का प्राकट्य हुआ) कलियुग में वेदों की रीति-पद्धतियों का पालन कठिन हो गया था। यथोचित-ठीक-ठीक धर्म (और उसका आचरण) तो कहीं देखने में भी नहीं आता था। कहीं कोई कही-समझायी भली बातों को करता-मानता ही नहीं था। संसार के सब देश उत्पथ गामी (कुमार्ग में चलने वाले) हो गये थे, सम्पूर्ण पृथ्वी और उस पर के नृपति गण भी धर्म से रहित हो गये थे। समस्त पृथ्वी पर म्लेच्छ ही म्लेच्छ बढ़ गये थे। (उनके संग एवं प्रभाव से) प्रायः सभी लोग (वेद-शास्त्रोक्त धर्म को छोड़कर) तात्कालिक (लौकिक, भोग-परक, स्वेच्छाचार पूर्ण) धर्म का आचरण करने लगे थे। जब कोई वेदोक्त कर्म मार्ग को ही नहीं जानते थे, तब फिर वे अज्ञ लोग भक्ति-मार्ग का ही मर्म कैसे पा लेते? अतएव उस मर्म को न पा सकने के कारण कर्म, ज्ञान एवं भक्ति से हीन रहकर संसार रूप आवागमन समुद्र में डूब उतरा रहे थे, उनसे साँस भी लेते नहीं बनती थी अर्थात् वे संसार-सागर में पड़े हुए थे और अत्यन्त दुखी थे।

अस्तु, मैं श्रीहरिवंश-यश का विलास वर्णन करता हूँ और श्रीहरिवंश का ही गान करूँगा, (जिन्होंने प्रकट होकर अपने प्रेम-ध र्म से समस्त अधर्मों का नाश कर दिया।)

टिप्पणी- ''म्लेच्छ सकल पुहुमी बढ़े-''

भारत वर्ष में पहले पहल यवनों का आना लगभग ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ। इसके बाद वे लोग क्रमशः इस देश में

अधिकाधिक संख्या में आ-आ कर बसते ही गये और बारहवीं-तेरहवीं सदी तक तो उन्होंने इस देश का पूर्णाधिकार प्राप्त कर लिया और दिल्ली के तख्त पर आसीन हो गये। महाप्रभु श्रीहित हरिवंश चन्द्र के जन्म-काल विक्रमीय सम्वत् १५५९ तदनुसार ईस्वी सन् १५१३ में दिल्ली के तख्त पर लोदी-वंश का राज्य शासन था।

श्री सेवक जी ने म्लेच्छ शब्द से यवन और उसी तरह की अन्य जातियों का आशय प्रकट किया है। म्लेच्छ कहने का अर्थ यह है कि वे सभी लोग धर्म, नीति, आचार-विचार, सदाचार, दया, क्षमा आदि मानव धर्मों के विपरीत आचरण करने वाले थे। वे स्वभावतया ईश्वर धर्म के न मानने वाले, कदाचार परायण, मांस-भोजी, मदिरा पायी, व्यभिचार परायण और अनेक आसुर-धर्मों में प्रीति रखने वाले थे। इन दुर्गुणों से अभिभूत जो कोई भी थे, चाहे वे ब्राह्मण या क्षत्रिय ही क्यों न रहे हों सब म्लेच्छ कहे जाने योग्य थे अतः उन सबके लिये अलग-अलग विशेषण न देकर 'म्लेच्छ' एक ही शब्द रख दिया गया है।

मूल- (५)

धर्म-रहित जानी सब बदइ दुनी,
म्लेच्छनि भार दुखित मेदिनी।
धनी और दूजौ नहीं॥
करी कृपा मन कियौ विचार,
श्रुतिपथ विमुख दुखित संसार।
सार वेद-विधि उद्धरी॥
सब अवतार भक्ति विस्तरी,
पुनि रस-रीति जगत उद्धरी[१]।
कर्‌यौ धर्म अपनौ प्रगट॥

---

१. किन्हीं प्रतियों में 'उच्चरी' पाठ भी मिलता है।

प्रगटे जानि धर्म कौ नास,
जस बरनौं हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥

भावार्थ–

जब आप (श्रीहरिवंशचन्द्र) ने समस्त संसार को धर्म से हीन जाना और उस पृथ्वी को म्लेच्छों के भार से दुखित देखा, जिसके एक मात्र स्वामी आप ही हैं अन्य नहीं। इसी प्रकार सारे विश्व को वेद–पथ से विमुख होकर दुखी होते देखकर आपने अनुग्रह पूर्वक प्रथम तो (अनेकानेक वेदाचार्यों के रूप में प्रकट होकर) वेदों की सार रूप पद्धति का प्रकाश किया; पश्चात् (भक्तिमार्ग के अनेक आचार्यों के रूप में अवतरित होकर) प्राय: सभी भगवदावतारों की नवधा–भक्ति का विस्तार–प्रचार किया और (सबके अन्त में स्वयं प्रकट होकर) अपने निज धर्म रस–रीति (महामधुर प्रेमलक्षणा पूर्ण निकुञ्ज–केलि) का प्रकाश किया।

इस तरह जो धर्म का नाश देखकर अपनी कृपा से परवश होकर इस भूतल पर श्रीहरिवंश चन्द्र नाम से प्रकट हुए हैं मैं उन्हीं के प्रेम–विलास का यशोगान करूँगा–केवल उन्हीं का गान करूँगा।

(६)

आपका प्राकट्य कहाँ और कब हुआ, इस बात का वर्णन करते हैं–

मूल–

मथुरा मंडल भूमि आपनी,
जहाँ बाद प्रगटे जग धनी।
भनी अवनि वर आप मुख॥

सुभ बासर सुभ रिक्ष विचार,
माधव मास ग्यास उजियार।
नारिनु मंगल गाइयौ॥
तच्छिन देव दुंदुभी बाजिये,
जै-जै शब्द सुरनि मिलि किये।
हिये सिराने सबनि के॥
*तारा जननि जनक रिषि व्यास,
जस बरनौं हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥

भावार्थ–

मथुरा मण्डल (या ब्रज मण्डल की) भूमि जो आपकी अपनी (नित्य) भूमि है उसके अन्तर्गत 'बाद' नामक ग्राम में सम्पूर्ण विश्व के स्वामी ये श्री हरिवशं चन्द्र प्रकट हुए। इस ब्रज-मण्डल की श्रेष्ठता का गान आपने स्वयं श्री मुख से अन्यत्र किया है। आपका प्राकट्य शुभ दिन, शुभ नक्षत्र, एवं शुभ लग्न-विचार में वैशाख मास की शुक्ल पक्षीय एकादशी को हुआ। तब जन्म के समय नारियों ने मगंल गान किया और देवताओं ने दुन्दुभियाँ बजायीं और जय-जय-जय के शुभ शब्द उच्चारण किये। आपके जन्म से सबके हृदय को

टिप्पणी– *तारा-व्यास=श्रीहरिवंश चन्द्र की माता तारा रानी थीं। परम भक्त राज कुलाचार्य श्री व्यास जी महाराज, श्रीहित हरिवंश चन्द्र के पिता थे।

बाद=ब्रज मण्डल में मथुरा से सात मील दूरी पर स्थित एक ग्राम जो श्रीहिताचार्यचरण की जन्म भूमि है।

शीतलता-शान्ति मिली। जिनकी माता श्री तारा रानी और पिता ऋषि श्रीव्यास मिश्र हैं, मैं उन श्रीहरिवंश के विलास का यशोगान करता हूँ और अन्त तक उन्हीं का गान करूँगा।

मूल— (७)

श्रीभागवत जु शुक उच्चरी,
तैसी विधि जु व्यास* विस्तरी।
करी नंद जैसी हुती॥
घर-घर तोरन बंदनवार,
घर-घर प्रति चित्रहिं दरबार।
घर-घर पंच शब्द बाजिये॥
घर-घर दान प्रतिग्रह होइ,
घर-घर प्रति निर्तत सब कोइ।
घर-घर मंगल गावहीं॥
घर-घर प्रति अति होत हुलास,
जस बरनौं हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥

भावार्थ—

श्रीशुकदेव जी ने श्रीमद्भागवत महापुराण में जैसा कुछ श्रीकृष्ण जन्मोत्सव का वर्णन किया है और भगवान् वेद-व्यास ने उसे ग्रन्थ रूप में विस्तृत किया लिखा है एवं श्री नन्द राय जी ने जिस तरह वर्णित विषय को प्रत्यक्ष करके दिखाया अर्थात् बड़े उत्साह से श्रीकृष्ण जन्मोत्सव मनाया। तदवत् 'बाद' ग्राम में भी घर-घर मंगल स्तम्भ और बन्दनवार-तोरणें सजायी गयीं। घर-घर में प्रत्येक ने अपने

* 'व्यास' शब्द इस पंक्ति में श्लेष है जिसके अनुसार 'व्यास' का अर्थ व्यास मिश्र करके पूरी पंक्ति का अर्थ यह भी हो सकता है कि हित हरिवंशजी के पिता व्यास मिश्र ने उत्सव का उसी प्रकार विस्तार किया जैसा पहले श्रीनन्दराय जी ने किया था।

द्वार, दीवारों पर चित्र विचित्र रचना कर हृदय का उल्लास प्रकट किया। वहाँ घर-घर में मंगल-सूचक पञ्च शब्द (दुन्दुभि आदि) बजने लगे, प्रत्येक घर में दान दिये जाने लगे और घर-घर प्रति नृत्य गान राग रंग का समारोह प्रगट होने लगा। सब लोग व्यास-सुवन के जन्म के आनन्द में भरकर नाचने लगे। इस प्रकार घर-घर में सब लोग मंगल गाने लगे और बाद-ग्राम के घर-घर में आनन्द का उल्लास होने लगा। मैं ऐसे मंगलमय श्रीहरिवंश के विलास का यश-गायन करता हूँ और उन्हीं को गाऊँगा भी।

(८)

प्रेमावतार श्रीहित हरिवंश चन्द्र के प्रकट होने के पश्चात् समस्त चराचर में किस प्रकार सुख और आनन्द छा गया; उसका वर्णन करते हैं–

मूल–

निर्जल सजल सरोवर भये,
उखटे वृक्षनि पल्लव नये।
दये सकल सुख सबनि कौं॥
असन सैन सुख नित-नित नये,
अन्न सुकाल चहूँ दिसि भये।
गये अशुभ सब विश्व के॥
म्लेच्छ सकल हरि जस विस्तरहिं,
परम ललित बानी उच्चरहिं।
करहिं प्रजा पालन सबै॥
अपनी-अपनी रुचि बस वास,
जस बरनौं हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥

भावार्थ–

(आपके प्रकट होते ही) बहुत काल के सूखे हुए सरोवर भी जल पूर्ण हो गये, उकठे हुए शुष्क वृक्षों में भी नये-नये पल्लव (पत्ते) आ गये। इस तरह मानों सम्पूर्ण विश्व में आनन्द छा गया। सबको अब भोजन, शयन आदि के नित्य-नित्य नये-नये सुख मिलने लगे। सब के लिये सर्वत्र सर्वकाल अन्न सुलभ हो गया-कमी न रही। अधिक क्या, सारे विश्व के मानो अमंगल ही नष्ट हो गये।

सभी म्लेच्छ लोग (अपने अधार्मिक आचरणों को छोड़ कर) श्रीहरि के यश का विस्तार करने लगे और उनका व्यवहार सरस एवं प्रेममय हो गया, (मानो उन्होंने भी अपनी स्वाभाव जन्य कठोरता त्याग दी) और (दया एवं स्नेह पूर्वक पुत्रवत् अपनी) प्रजा का पालन करने लगे। प्रजा अपनी अपनी रुचि के आवास स्थानों में (अब निर्भय रूप से) रहने लगी।*

(जिनके जन्म होते ही यह सब आनन्द मंगल हो गया) मैं (उन परम प्रभावशाली) श्रीहरिवंश का यशोगान करता हूँ और श्री हरिवंश का ही सर्वत्र गान करूँगा।

---

* इस छन्द में ''म्लेच्छ सकल.......से लेकर... प्रजा पालन सबै।'' यहाँ तक की पंक्तियों में उस समय के शासक वर्गों के अत्याचार, उत्पीड़न और स्वेच्छाचारिता की एक झलक है कि वे पहले भक्ति-भाव के विरोधी, कठोर-भाषी और प्रजा-वर्ग को सदा सताने वाले थे। लोगों को सुख पूर्वक उनके अपने घरों में भी नहीं रहने देते थे, इस कारण प्रजा सदा अन्न, वस्त्र, भोजन से अभावग्रस्त रहती थी। अब आपके प्रकट होते ही उन म्लेच्छों ने अपना जन्म-जात स्वभाव भी त्याग दिया और वे अपने विपरीत आचरणों को छोड़कर सज्जन हो गये; इसीलिये फिर उनके राज्य में प्रजा अन्न, वस्त्र, भोजन, शयन आदि से सुखी हो गयी। भूतल के मानों अशुभ चले गये और सभी लोग स्वतन्त्रता पूर्वक अपने घरों मे निर्भय रूप से निवास करने लगे। वे म्लेच्छ राजा लोग भी प्रीति पूर्वक प्रजा का पालन करने लगे।

मूल—

(९)

चलहिं सकल जन अपने धर्म,
ब्राह्मन सकल करहिं षट् कर्म।
भर्म सबनि कौ भाजियौ॥
छूटि गई कलिजुग की रीति,
नित-नित नव-नव होत समीति।
प्रीति परस्पर अति बढ़ी॥
प्रगट होत ऐसी विधि भई,
सब भव जनित आपदा गई।
नई-नई रुचि अति बढ़ी॥
सब जन करहिं धर्म अभ्यास,
जस बरनौं हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥

भावार्थ—

अब सब लोग अपने अपने धर्म के अनुसार चलने लगे। समस्त ब्राह्मण गण अपने षट् कर्मों को यथावत् करने लगे, लोगों के भ्रम-संशय का निवारण हो गया और कलियुग की रीति (कलह पाखण्ड आदि) तिरोहित हो गयीं। सब लोगों में पारस्परिक प्रीति में अभिवृद्धि हुई और नित्य नव-नव प्रेम मैत्री के भाव जागृत हो उठे। आपके प्रकट होते ही कुछ ऐसा हुआ कि जन्म-मरण जन्य आपत्तियाँ संसार से नष्ट हो गयीं और लोगों की धर्म के प्रति अधिकाधिक रुचि होने लगी। सब लोग धर्म का पालन करने लगे।

अस्तु, जिनके प्राकट्य मात्र से यह सब होने लगा मैं उन परम कृपामय श्रीहरिवंश के यश-विलास का वर्णन करता हूँ और उनके ही नाम, रूप, गुण, लीला, प्रभाव आदि का वर्णन-गान करूँगा।

टिप्पणी– कलिजुग की रीति –

कलि धर्म का वर्णन आदि पुराण, श्रीमद्भागवत एवं अन्यान्य पुराणों में बहुत विस्तार से किया गया है, वहाँ–वहाँ देखना चाहिये। यहाँ पर संक्षेप से श्रीराम–चरित मानस में से कलि–धर्म वर्णन का प्रसंग दिया जाता है–

दोहा–

कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भये सद्ग्रन्थ।
दम्भिन्ह निज मति कल्पि करि प्रकट किये बहु पंथ।
भये लोग सब मोह बस लोभ ग्रसे सुभ कर्म।
सुनु हरिजान ग्यान निधि कहुउँ कछुक कलि धर्म॥

चौपाई–

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी॥
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। सोई पण्डित जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
जो कह झूँठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो विरागी॥
जाके नख अरु जटा बिसाला। सोई तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥

दोहा–

असुभ भेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माँहिं॥

सोरठा–

जे अपकारीचार तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम वचन लवार तेइ बकता कलिकाल महुँ॥

चौपाई–

नारि विवस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मर्कट की नाईं॥
सूद्र द्विजन्हि उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
सब नर काम लोभ रत क्रोधी। देव विप्र श्रुति संत विरोधी॥
गुन मंदिर सुंदर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी॥
सौभागिनीं विभूषन हीना। विधवन्ह के सिंगार नवीना॥
गुरु शिष्य अंध बधिर का लेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा॥
हरइ शिष्य धन सोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महँ परई॥
मातु पिता बालकहि बोलावहिं। उदर भरै सोई धर्म सिखावहिं॥

दोहा–

ब्रह्म ग्यान बिनु नारि-नर, करहिं न दूसर बात।
कौड़ी लागि लोभ बस, करहिं विप्र गुरु घात॥
बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम्हते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि देखावहिं डाटि॥

चौपाई–

पर त्रिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने॥
तइ अभेद वादी ग्यानी नर। देखा मैं चरित्र कलिजुग कर॥
आपु गये अरु तिन्हहूँ घालहिं। जे कहुँ सत मारग प्रतिपालहिं॥
कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका॥
जे वरनाधम तेलि कुम्हारा। श्वपच किरात कोल कलवारा॥
नारि मुई गृह संपति नासी। मूँड़ मुँड़ाइ होहिं सन्यासी॥
ते विप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥
विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ वृषली स्वामी॥
सूद्र करहिं जप तप व्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥
सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा॥

दोहा–

भये बरन संकर कलि, भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक वियोग॥
श्रुति संमत हरि भक्ति पथ संजुत विरति विवेक।
तेहिं न चलहिं नर मोह बस कल्पहिं पंथ अनेक॥

छन्द–

बहु दाम सँवारहिं धाम सती। विषया हरि लीन्हि न रहि बिरती॥
तपसी धनवंत दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कही॥
कुलवंति निकारहिं नारि सती। गृह आनहिं चेरि निवेरि गती॥
सुत मानहिं मातु पिता तब लौं। अबलानन दीख नहीं जब लौं॥
ससुरारि पियारि लगी जब तें। रिपु रूप कुटुम्ब भये तब तें॥
नृप पाप परायन धर्म नहीं। करि दंड विडंब प्रजा नित हीं॥
धनवंत कुलीन मलीन अपी। द्विज चिन्ह जनेऊ उघार तपी॥
नहिं मान पुरान न वेदहि जो। हरि सेवक संत सही कलि सो॥
कवि वृन्द उदार दुनी न सुनी। गुन दूषक बात न कोपि गुनी॥
कलि बारहिं बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुखी बहु लोग मरै॥

दोहा–

सुनु खगेस कलि कपट हठ दंभ द्वेष पाखंड।
मान मोह मारादि मद ब्यापि रहे ब्रह्मण्ड॥
तामस धर्म करहिं नर जप तप व्रत मख दान।
देव न बरसहिं धरनी बये न जामहिं धान॥

छन्द–

अबला कच भूषन भूरि छुधा। धन हीन दुखी ममता बहुधा॥
सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता। मति थोरि कठोरि न कोमलता॥
नर पीड़ित रोग न भोग कहीं। अभिमान विरोध अकारन हीं॥

लघु जीवन संवतु पंचदसा। कलपांत न नास गुमान असा।।
कलिकाल विहाल किये मनुजा। नहिं मानत कौं अनुजा तनुजा।।
नहिं तोष विचार न सीतलता। सब जाति कुजाति भये मंगता।।
इरषा परुषाच्छर लोलुपता। भरिपूरि रही समता-विगता।।
सब लोग वियोग विसोक हये। वरनाश्रम धर्म अचार गये।।
दम दान दया नहिं जानपनी। जड़ता परबंचन ताति घनी।।
तनु पोषक नारि नरा सगरे। पर निंदक जे जग मो बगरे।।
सुनु व्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार।।

(१०)

अब एक छन्द श्रीहरिवंश की बाल लीलाओं का संक्षेपत: संकेत करते हैं–

मूल– बाल विनोद न बरनत बनहि,
अपनौ सो उपदेसत मनहि।
गनहि कवन लीला जिती।।
सब हरि सम गुन, रूप अपार,
महा पुरुष प्रगटे संसार।
मार विमोहन तन धर्यौ।।
छिन न तृपित सुभ दरसन आस,
दुलरावत बोलत मृदु हास।
व्यास मिश्र कौ लाड़िलौ।।
मुदित सकल नहिं छाँड़त पास,
जस बरनौं हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं।।

देखि री देखि बलि व्यासनन्दन बन्यौ



श्री व्यासमिश्र एवं श्री तारा रानी के लाड़िले
श्री व्यासनन्दन जू

भावार्थ–

आपका बाल विनोद वर्णन करते नहीं बनता मैं (तो केवल अपने) मन को समझा रहा हूँ। भला उनकी जितनी लीलाएँ हैं उन्हें कौन गिन सकता है ? आपका रूप और सभी गुण श्रीहरि के गुणों के समान अपार हैं, क्योंकि (स्वयं भगवान् ही) महापुरुष (रूप में) संसार में प्रकट हुए हैं न! तभी तो आपने कामदेव को भी मोहित कर देने वाला–मदन मोहन रूप धारण किया है; जिसे देखकर क्षण मात्र के लिये भी तृप्ति नहीं होती। उस पवित्र एवं मंगलमय दर्शन की आशा लालसा लगी ही रहती है। कितना सुन्दर है यह व्यास मिश्र का ल़ाड़ला जो दुलराते, बोलते–बुलाते एक मीठी हँसी का अमृत सा बरसाता रहता है जिससे सब प्रसन्नता से उसे घेरे ही रहते हैं। उसकी समीपता को छोड़ना ही नहीं चाहते।

श्री सेवक जी कहते हैं–रसिको! मैं ऐसे प्रेमानन्दमय श्रीहरिवंश के यश का विलास वर्णन करता हूँ और उन्हीं सर्वोपरि श्रीहरिवंश का गान करता रहूँगा।

(११)

आचार्य श्रीहरिवंश चन्द्र ने व्यापक रूप से नाना आचार्यों के हृदय में विराजित होकर किंवा स्वयं अपने श्रीमुख से अधिकारी वर्ग को जो उपदेश दिये उनका संक्षेप उल्लेख करते हैं–

मूल–

अब उपदेश भक्ति कौ कह्यौ,
जैसी विधि जाके चित रह्यौ।
लह्यौ सु मनवांछित सुफल॥
सब हरि भक्ति कही समुझाइ,
जैसी-जैसी जाहि सुहाइ।
आइ सकल चरननि भजे॥

साधन सकल कहे अविरुद्ध,
वेद-पुरान सु आगम सुद्ध।
बुध-विवेकि जे जानहीं॥
समुझ्यौ सबनि सु भक्ति उजास,
जस बरनौं हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥

भावार्थ–

जिस साधक के चित्त में जिस प्रकार की इष्ट भावना थी आपने उसीके अनुरूप भक्ति का उपदेश दिया जिससे उसने अपने मनचाहा सुन्दर फल (इष्ट सिद्धि) प्राप्त कर लिया। इसके पश्चात् जिस-जिसको जैसी-जैसी रीति-पद्धति से प्रीति एवं रुचि थी आपने उसी-उसी प्रकार से उन्हें सम्पूर्णतया भगवद्भक्ति के मार्गों एवं लक्षणों का भेद प्रभेद समझा, इस प्रकार प्रायः सभी (भक्तों) ने आ- आकर आपके श्रीचरणों का सेवन किया। आपने वेद-पुराण शास्त्रों से प्रतिपादित एवं शुद्ध (केवल अनन्य भक्ति के) साधनों का उपदेश भी किया; जिन्हें ज्ञानी एवं विवेकी-जन ही जान-समझ सकते हैं। इस तरह जिनकी कृपा से समस्त जगत ने भक्ति के उज्ज्वल प्रकाश (महत्व, प्रभाव आदि) को समझा मैं उन्हीं श्रीहरिवंश चन्द्र का यश विलास वर्णन करता हूँ और उन्हीं का गान करता रहूँगा।

टिप्पणी–

सब हरि भक्ति --------

भगवान् के सगुण साकार स्वरूप एवं लीला अवतारों में नवधा-भक्ति ही सम्पूर्ण हरिभक्ति है। नवधा-भक्ति का वर्णन श्रीमद्भागवत में इस प्रकार है–

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्ति श्र्येन्नव लक्षणा।।

(श्रीमद्भागवत म॰ ७।५।२३,२४)

अर्थात्– ''भगवान विष्णु का श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और उनके प्रति आत्म-निवेदन करना– यह उनकी नवधा भक्ति है।''

इस हरिभक्ति की दृढ़ता एवं निकटता के लिये भगवान् के प्रति पाँच भावों का आधान करने की भी आज्ञा भक्ति-शास्त्रों में है। वे पाँच भाव ये हैं– शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर। ये क्रमशः उत्तरोत्तर एक दूसरे से श्रेष्ठ हैं और अन्ततः सबकी परिसमाप्ति मधुर-रति या गोपी भाव में है। इस गोपी-भाव से भी विलक्षण नित्य विहार रस है। किन्तु यहाँ उसका वर्णन अप्रासंगिक होगा, क्योंकि उसकी गणना नवधा-भक्ति में नहीं है। वह दशधा प्रेम लक्षणा भक्ति है; अतः उस प्रेमा भक्ति का वर्णन आगे के अनुकूल प्रसंगों में होगा।

(१२)

ग्यारहवें छन्द में भगवतत्व और भगवद्भक्ति का उपदेश किया गया। अब इस बारहवें छन्द में अवतार-क्रम से श्रीकृष्ण तत्व की परात्परता के उपदेश का लक्ष्य कराते हैं–

मूल–

अब अवतार भेद तिन कहे,
सकल उपासक तिन मन रहे।
कहे भक्ति साधन सबै।।
मथुरा नित्य कृष्ण कौ वास,
निस दिन स्याम न छाँड़त पास।

तासु सकल लीला कही॥
कही सबनि की एकै रीति,
श्रवन-कथन सुमिरन परतीति।
बीति काल सब जाइयौ॥
उपज्यौ सबनि सुदृढ़ विस्वास,
जस बरनौं हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥

भावार्थ—

(पहले सामान्य भगवद्भक्ति का उपदेश करके) अब (विशेष रूप से) भगवदावतारों का भेद उन (अवतार उपासकों) के प्रति कहा (जो जिन अवतारों के प्रति प्रीति एवं निष्ठावान् थे।) उस उपदेश को सुनकर उन उपासकों ने अपनी-अपनी इष्ट-निष्ठा दृढ़ की। इन्हें भी भक्ति के (वे ही) साधन बताये, (जो नवधा-भक्ति के क्रम में हैं।)

(समस्त अवतारों के बीज श्रीकृष्ण-अवतार का निरूपण करते हुए आपने बताया कि) श्रीकृष्ण नित्य-निरन्तर मथुरा में निवास करते हैं। ये मथुरा-वासी श्यामसुन्दर मथुरा का सामीप्य (निवास) कभी छोड़ते ही नहीं। इनकी समस्त लीलाओं का भी वर्णन आपने किया। (उपासना-साधना क्रम में भगवदावतार, भगवत्तत्व, एवं मथुरा वासी श्रीकृष्ण) सभी भक्तों के लिये विश्वास पूर्वक गुण-लीला श्रवण, कथन, स्मरण आदि यही साधन एक ही रीति से आपने बताया। (और यह भी कहा कि) इस प्रकार नवधा भक्ति करते-करते ही (जीवन का) सारा समय व्यतीत होना चाहिये।

श्रीसेवक जी कहते हैं कि आपकी इन बातों पर सबका सुदृढ़ विश्वास उत्पन्न हो गया, मैं ऐसे हरिवंश चन्द्र का यश विलास वर्णन और गुण-गान करता हूँ और करूँगा।

टिप्पणी–

समस्त अवतारों के निधान (बीज) श्रीकृष्ण हैं। उनका मथुरा वासी स्वरूप अन्य अवतारों से परे और महान् है किन्तु उनकी प्राप्ति में भी उन्हीं साधनों का उपयोग है, जो अन्य भगवद् रूपों और अवतारों में है अर्थात् ये सब केवल उसी नवधा भक्ति से ही सिद्ध–प्राप्त होने वाले स्वरूप हैं।

(१३)

अब (मथुरा वासी श्रीकृष्ण से परे) ब्रज–बिहारी श्रीनन्दनन्दन के स्वरूप, प्रभाव लीला का लक्ष्य कराते हुये कहते हैं–

मूल–

अब जु कही सब ब्रज की रीति,
जैसी सबनि नंद–सुत प्रीति।
कीर्ति सकल जग विस्तरी॥
बाल–चरित्र प्रेम की नींव,
कहत सुनत सब सुख की सींव।
जीवन ब्रज–वासिनु सफल॥
ब्रज की रीति सु अगम अपार,
विस्तरि कही सकल संसार।
कारज सबहिनु के भये॥
ब्रज की प्रीति रीति अनियास,
जस बरनौं हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥

भावार्थ–

जैसी सब ब्रज–वासियों की नन्द–नन्दन श्रीकृष्ण पर प्रीति थी और जैसी जो कुछ ब्रज की प्रीति–रीति है, जिसका सुयश सारे विश्व में

अभी भी व्याप्त है, वह आपने कही। श्रीकृष्ण के बाल-चरित्र क्या हैं? प्रेम की नींव (मूल, बुनियाद) जो वर्णन-गान कहते सुनते समस्त सुखों की सीमा रूप हैं। वे (नन्द-किशोर) श्रीकृष्ण सब ब्रज-वासियों के जीवन के संचित परम फल हैं। ब्रज की प्रीति जो अगम और अपार है, आपने उसका भी विस्तार पूर्वक वर्णन किया, जिससे सब के मनोरथ पूर्ण हो गये। (आपने बताया कि यह ब्रज की प्रीति-रीति सहज-स्वाभाविक है साधन सिद्धा किंवा सहैतुकी नहीं।

मैं ऐसे सर्वज्ञ, भक्ति विधायक श्रीहरिवंश चन्द्र का यशोगान करता हूँ और उन्हीं का वर्णन-गान करूँगा।

टिप्पणी–

ब्रजवासियों की प्रीति प्रेम-लक्षणा है। वह (नवधा भक्ति नहीं है) वह प्राय: सभी भक्ति-संविधानों से ऊपर उठी हुई है। उसे महात्माओं ने भक्ति न कह कर 'रति' कहा है क्योंकि भक्ति तो आत्म निवेदन तक ही मर्यादित है और इसका प्रारम्भ वहाँ से है; जहाँ आत्म-निवेदन की समाप्ति है। व्यास जी कहते हैं–

''नवधा लौं सब भक्ति उबीठी, रति भागौत कथा की।''

इसी प्रकार श्रीबिहारिन देवजी कह रहे हैं–

भक्ति दहद लै को तरै ब्रज लौं बनत न जात।

अस्तु; भक्ति, शास्त्रीय मर्यादाओं से बँधी है किन्तु ब्रज-वासियों का प्रेम उन समस्त बन्धनों से मुक्त है, जिनसे भक्ति बँधी है। इसमें साधन-साध्य का कोई प्रश्न नहीं है। इसके साध्य एवं साधन सभी एक श्रीकृष्ण हैं इसीलिये इस प्रीति के लिये कहा गया है–''ब्रज की प्रीति-रीति अनियास''-सहज है।

(१४)

अब अन्त के एक छन्द में अपनी अत्युत्कृष्ट रसोपासना नित्य-विहार-केलि का सूत्र लक्षित कराते हैं, जो अभी तक कहे गये सभी धर्म, भक्ति एवं ब्रज की प्रीति-रीति से विलक्षण है–

मूल–

जेहि विधि सकल भक्ति अनुसार,
तैसी विधि सब कियौ विचार।
सारासार विवेक कैं॥
अब निजु धर्म आपुनौं कहत,
तहाँ नित्य वृंदावन रहत।
बहत प्रेम-सागर जहाँ॥
साधन सकल भक्ति जात नौं,
निजु निज वैभव प्रगटत आपुनौं।
भनौं एक रसना कहा॥
श्रीराधा जुग चरन निवास,
जस बरनौं हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥

भावार्थ–

श्रीहरिवंश चन्द्र ने अभी तक सार एवं असार के विवेक निर्णय के साथ उसी विधि-विधान साधन का विचार किया या उपदेश दिया जिस प्रकार से लोग भक्ति का आचरण कर सकें किन्तु अब इसके आगे अपना निज धर्म (सहज धर्म) कहते हैं– (वह क्या है?) जहाँ नित्य वृन्दावन है और जिसमें नित्य प्रेम का समुद्र निरन्तर प्रवाहित रहता-उमड़ता रहता है। जिस तक पहुँचने का प्राथमिक एवं पूर्णतया

साधन है भक्ति जन्य नवधा भेद भक्ति। जिससे आप अपने उसी निज-वैभव (नित्य-विहार रस) का प्रकाश करते हैं। मैं उस अवर्णनीय रस का अपनी एक जड़ जिह्वा से कैसे वर्णन कर सकता हूँ? जिस नित्य विहार वैभव की अन्तिम गति परम आह्लादिनि रस रूपा श्रीराधा के युगल चरणों का निवास है। मैं उन्हीं नित्य-विहार तत्व प्रकाशक श्रीहरिवंश चन्द्र के यश विलास का वर्णन करता हूँ और उन्हीं श्रीहरिवंश चन्द्र के नाम, गुण, लीला, माहात्म्य एवं स्वरूप आदि का गान करता रहूँगा।

टिप्पणी–

निजु धर्म– यों तो ''निजु'' शब्द का अर्थ सहज या स्वाभाविक है किंतु श्री वृन्दावन विहार में 'निजु' शब्द महान् एवं गम्भीर अर्थ में व्यवहृत है। इसका संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि यह वृन्दावन का रसमय नित्यविहार तत्व समस्त वेद, शास्त्र, पुराण एवं संहिता आदि से सर्वथा अलक्षित है। यह युगल किशोर श्रीराधावल्लभ लाल की आगम-निगमातीत रहस्य क्रीड़ा है। और तो क्या इस का ज्ञान ब्रह्मा, विष्णु, सनकादि, शिव एवं नारदादि से लेकर महाविष्णु तक को नहीं है। इसे तो केवल युगल किशोर और उनकी नित्य सहचरियाँ ललिता-विशाखा आदि ही जानती हैं क्योंकि यह पुर या ब्रज केलि नहीं अपितु निकुञ्ज महल की लीला है। यह केलि ही रसिक ललितादिक सखियों की निज सम्पत्ति है।

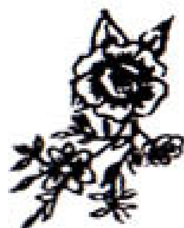
इस केलि का प्रकाश किसी परम कृपा पात्र भाग्यवान् शरणागत हित धर्मी के पवित्र हृदय में रस मूर्ति कृपामयी श्री राधा निकुञ्जेश्वरी की कृपा से ही हो सकता है।

श्रीहित हरिवंश चन्द्र तात्त्विक विचार से युगल किशोर श्रीराधावल्लभ लाल के हृदय में सदा विहार करने वाले निगूढ़ प्रेम तत्व हैं। वृन्दावन का समस्त परिकर एवं विलास भी इन्हीं प्रेम तत्व का विस्तार है या यों कहदें कि समस्त नित्य-विहार इनका ही रूप है तो और अधिक स्पष्ट हो जायगा। अत: यह नित्य-विहार इनकी निज सम्पत्ति है जिसे इस उपर्युक्त छन्द में 'निजु धर्म' के नाम से कहा गया है यह नित्य-विहार रसिक जनों का 'निजु धर्म' या सहज धर्म कैसे है; इसका स्पष्टीकरण रसिक महानुभाव श्री भगवत रसिक जी महाराज ने इस प्रकार किया है–

काहू दई न लई कोइ विद्यमान दरसाय।
ज्यौं मनियारो उरग मनि लै आवै लै जाय॥
लै आवै लै जाय वस्तु रसिकन की ऐसे।
निसिदिन देखत रहैं कृपन निजु संपति जैसे॥
'भगवत रसिक' सुकेलि स्याम स्यामा अवगाहू।
हिय नैंननि रही पूरि भेद जान्यौ नहिं काहू॥

–"अनन्य निश्चयात्म"

॥ जै जै श्रीहरिवंश ॥



श्रीहित रस-विलास

(द्वितीय प्रकरण)

पूर्व परिचय–

यश विलास नामक प्रथम प्रकरण में श्रीहरिवंश चन्द्र के व्यापक स्वरूप (हित-तत्व) का वर्णन किया गया और साथ ही उनके जन्म कर्म गुण एवं रूप की अनिर्वचनीयता कही गयी किन्तु फिर भी शाखा-चन्द्र न्याय से उक्त बातों की ओर संकेत भी किया गया। अन्तिम छन्द के पूर्व तक श्री कृष्ण भक्ति, ब्रज रस एवं उसके साधनों का विचार किया गया और अन्तिम छन्द में ''अब निजु धर्म आपुनौ कहत'' कह कर नित्य विहार रस के वर्णन-कथन की प्रतिज्ञा की गयी। वही 'निजु धर्म' नित्य विहार यहाँ 'रस विलास' के नाम से वर्णन किया जायगा। 'यश-विलास' नाम से प्रथम प्रकरण का अर्थ पाठकों ने समझ लिया होगा कि वह श्रीहरिवंश के यश वैभव विस्तार का वाचक है, इसी तरह यह दूसरा प्रकरण 'रस-विलास' भी अपने नाम की सार्थकता रखता है। इसमें युगल किशोर के नित्य-विहार रस किंवा वृन्दावन रस-विलास के सूत्रों का संकेत है, इसलिये इसे रस विलास कहा गया है। किन्हीं किन्हीं के मत से इसे 'हरिवंश विलास' भी कहा जाता है। ठीक भी है क्योंकि श्रीहरिवंश ही तो रस हैं।

इस प्रकरण में क्रमशः केलि-विलास का स्वरूप, रस का स्वरूप, रसिकों का स्वरूप, रस-साधना का स्वरूप, रसोपासना का फल, रस की सर्वश्रेष्ठता, रसिकता एवं रस के समक्ष अन्य साधन एवं फलों की हेयता, रसिक चित्त की दृढ़ता और रसिक उपासक की सर्व निरपेक्ष बुद्धि की प्रशंसा आदि विषयों का वर्णन है।

मूल–

(१)

श्रीहरिवंश नित्य वर केलि,
बाढ़त सरस प्रेम रस बेलि।
मेलि कंठ भुज खेलहीं।।
बनितन गन मन अधिक सिरात,
निरखि-निरखि लोचन न अघात।
गात गौर-साँवल बनैं।।
जूथ जूथ जुवतिनु के घनैं,
मध्य किशोर-किशोरी बनैं।
गनैं कवन रति अति बढ़ी।।
नित-नित लीला नित-नित रास,
सुनहु रसिक हरिवंश बिलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं।।

भावार्थ–

श्रीहरिवंश की यह श्रेष्ठ एवं नित्य रस-केलि (नित्य विहार क्रीड़ा) प्रतिक्षण सरस है एवं इसमें प्रेम रस रूपी लता नित्य वर्धमान रहती है। (इस विहार में दोनों प्रिया-प्रियतम) गल बहियाँ दिये सदा क्रीड़ा-परायण रहते हैं, जिनका दर्शन कर सहचरि-गणों का मन अधिकाधिक शीतल होता रहता है। वे देखती ही रहती हैं, इस विहार को, किन्तु देखते हुए भी उनके नेत्र अतृप्त बने रहते हैं।

(नृत्य क्रीड़ा के समय की छटा भी बड़ी अपूर्व है।) गौर-श्याम-तनु युगल किशोर भली प्रकार सुशोभित हैं और सब सहचरियों के मध्य में शोभा पा रहे हैं। युवती-गणों के अनेकानेक यूथ हैं। उस रास में अत्यधिक बढ़ी प्रीति का वर्णन कौन कर सकता है?

श्री सेवक जी कहते हैं– हे रसिकों ! सुनो, मैं श्रीहरिवंश विलास का जो वर्णन करूँगा, उसमें सदा-सदा ऐसा ही रास और सदा-सदा ऐसी ही लीलाएँ हैं अतः मैं ऐसे ही रसमय श्रीहरिवंश का ही गान करूँगा।

टिप्पणी– **'नित्य वर केलि'**

रसिकचार्य श्रीहित हरिवंश चन्द्र महाप्रभु पाद ने जिस वृन्दावन-विहार रस केलि का इस विश्व में प्रकाश किया है, वह अवतारवाद से परे, विलक्षण एवं अगोचर है। वह नित्य है, अनादि है, और अनन्त है। उसका सूक्ष्म परिचय इतना ही है कि नित्य-धाम वृन्दावन में नित्य किशोर श्री राधावल्लभ लाल अपनी नित्य सहचरियों के साथ नित्य रास-विलास ही किया करते हैं। यह रस केलि विश्व प्रपञ्च से सुदूर है, सृष्टि-पालन एवं प्रलय की छाया माया उसका स्पर्श भी नहीं कर पाती। और तो क्या सृष्टि पालन प्रलय के प्रधान कर्त्ता-पुरुष ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी उस नित्य-विहार से अपरिचित हैं। इस 'नित्य-वर केलि' में अवतारों के भी बीज, अवतारी श्री राधावल्लभलाल नित्य रसमयी क्रीड़ाएँ करते और रास-विलास का ही सुख लिया करते हैं।

मूल– (२)

लता भवन सुख शीतल छहाँ,
श्रीहरिवंश रहत नित जहाँ।
तहाँ न वैभव आन की॥
जब-जब होत धर्म की हानि,
तब-तब तनु धरि प्रगटत आनि।
जानि और दूजौ नहीं॥
जो रस रीति सबनि तें दूरि,
सो सब विश्व रही भरपूरि।
मूरि सजीवनि कहि दई॥

सब जन मुदित करत मन हास,
सुनहु रसिक हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥

भावार्थ–

श्रीवृन्दावन के लता-भवन में जहाँ सुखमयी शीतल छाया है वहीं श्री हरिवंश चन्द्र नित्य-निरन्तर निवास करते हैं, वहाँ किसी दूसरे का कोई भी अधिकार या महत्त्व नहीं है, केवल श्री हरिवंश का ही एकमात्र स्वत्व है वहाँ। जब जब इस विश्व में (रस-रीति रूप आपके निज) धर्म की हानि-ग्लानि होती है तब-तब यह समझ कर कि (मेरे सिवाय) इसका कोई दूसरा रक्षक नहीं है आप मानव शरीर धारण करके प्रकट हो जाते हैं।

(इस सिद्धान्त से इस समय आपने प्रकट होकर) वह रस रीति जो सारे विश्व में परिपूर्ण व्याप्त रहकर भी सबसे दूर–अलक्षित थी सबकी सञ्जीवनी उस जड़ी को वर्णन द्वारा (ग्रन्थों में) प्रकट कर दिया। जिसे पाकर सब रसिक जन मुदित हो गये सबके मन प्रसन्नता से खिल उठे ऐसा है रसिको ! श्रीहरिवंश का विलास, उसे आप सुनिये मैं उसका गान करूँगा।

टिप्पणी–

(i) 'धर्म की हानि'–

यहाँ **'धर्म'** शब्द से सामान्य लोक धर्म या वेद धर्म नहीं समझना चाहिये। यहाँ धर्म विशेष अर्थ- **'हित धर्म'** के लिये प्रयुक्त हुआ है, जिसके प्रवर्त्तक और प्रचारक स्वयँ श्रीहित हरिवंश चन्द्र हैं। वे जब अपने धर्म की हानि देखते हैं तब प्रकट हो आते हैं।

(ii) ' जानि और दूजौ नहीं '

अपने निज धर्म के रक्षक केवल आप श्रीहरिवंश चन्द्र ही हैं अन्य कोई नहीं, अत: ऐसा जानकर वे अवतरित होते हैं।

अब यदि इस छन्द में 'धर्म' शब्द का अर्थ इनका ऐकान्तिक 'निजु-धर्म' या 'हित-धर्म' न मानकर विश्व धर्म या सामान्य धर्म मानें, तो भी उसकी रक्षा के लिये आपको ही अवतरित होना पड़ता है। वह इस प्रकार कि सब आचार्य, भगवदावतार, संत, भक्त एवं ऋषि-मुनियों के नाना-नाम रूपों में आप ही तो हैं। सब कुछ हितमय ही तो है। फिर अन्य आचार्यादि आपसे भिन्न कहाँ ?

सबै चित्र हित मित्र के, जहँ लौं धामी धाम।

(iii) जो रस रीति सबनि ते दूरि
सो सब विश्व रही भरपूरि।

प्रथम प्रकरण यश विलास में प्रेम के व्यापक स्वरूप का किञ्चित् लक्ष्य कराया गया है। प्रेम परिछिन्न भी है और अपरिछिन्न भी। जब वह अपरिछिन्न है तब व्यापक है, अणु-अणु में है, केवल वही वही है सर्वत्र। उसके सिवाय और कुछ है ही नहीं। उसके सिवाय अन्य कुछ देखना ही दृष्टि का दोष है जिसे अज्ञान दृष्टि से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर,जड़ चेतन आदि अनेक नाम रूपों से देखा-कहा और सुना समझा जाता है, सब का सब सूक्ष्म दृष्टि से विवेक की आँखों से प्रेम ही प्रेम है। प्रेम सबके अन्तर में अपना अधिकार जमाये बैठा है उसी के सान्निध्य में प्रत्येक, किसी अव्यक्त सुख का अनुभव करता है। उसे ही मनीषी गण स्नेह या प्रेम कहते हैं। बहुत स्पष्ट है कि जहाँ भी कहीं कुछ स्नेह है वहीं सुख मिलता है जहाँ स्नेह नहीं

है वहाँ सुख की राशि दूसरों के लिये हो सकती है उसके लिये नहीं। कितना स्पष्ट है कि परमानन्दमय ब्रह्म के प्रति स्नेह न होने से विषयी प्राणी को उसमें कोई आनन्द नहीं प्राप्त होता।

अस्तु वह स्नेह सम्बन्ध ही सब में सुख एवं आनन्द का सञ्चार करता है, सब में विराजमान् है। इस सर्व स्थित हित-स्नेह, प्रेम या मोहब्बत को उसी दृष्टि से देखना चाहिए, जो उसके देखने की दृष्टि है।

और उस दृष्टि से देखने पर स्पष्ट दिखाई देता है कि वह नित्य रस केलि–हित रस रीति सबसे दूर अलक्षित रहकर भी सबमें ओत-प्रोत है, अणु-अणु में व्याप्त है।

मूल– (३)

ललितादिक स्यामा अरु स्याम,
श्रीहरिवंश प्रेम रस धाम।
नाम प्रगट जग जानिये॥
श्रीहरिवंश-जनित जहाँ प्रेम,
तहाँ कहाँ व्रत-संयम-नेम।
छेम सकल सुख संपदा॥
तहाँ जाति कुल नहीं विचार,
कौन सु उत्तम कौन गँवार।
सार भजन हरिवंश कौ॥
या रस मगन मिटै भव-त्रास,
सुनहु रसिक हरिवंश-विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥

भावार्थ–

ललिता, विशाखा आदि सखियाँ, श्यामा–श्रीराधा, श्याम–श्रीकृष्ण और श्रीहरिवंश ये सब प्रेम रस के धाम हैं (अथवा श्रीहरिवंश प्रेम रस धाम के ललिता विशाखादि, श्यामा और श्याम ये अनेक रूप हैं।) विश्व में इनके नाम प्रगट हैं। जहाँ श्रीहरिवंश जनित (अर्थात् श्रीहरिवंश चन्द्र के द्वारा प्रकाशित) प्रेम प्रकट हो रहा है वहाँ बेचारे व्रत, संयम और नियम कहाँ रह सकते हैं? अपने आप भाग जाते हैं। वहाँ पूर्ण सुरक्षा (क्षेम) है, सम्पूर्ण सुख हैं और सब सम्पत्ति है। वहाँ न जाति विचार है और न कुल का ही। इसी तरह उत्तम कौन है और कौन गँवार है? यह भी विचार–भेद नहीं (वरं उस प्रेम राज्य में सब एक ही दृष्टि से केवल प्रेम–दृष्टि से देखे जाते हैं) क्योंकि यह श्रीहरिवंश के द्वारा प्रकटित भजन सार रूप है; (द्वैत बुद्धि से उठा हुआ अद्वैतमय है।) जो इस रस में मग्न हो जाता है, उसका सांसारिक क्लेश तत्काल मिट जाता है। (अर्थात् प्रेमी के सामने जन्म–मरण की स्मृति ही कहाँ रह पाती है वह तो प्रेम–प्रवाह में बह जाती है।)

हे रसिक जनो ! आप श्रीहरिवंश–विलास का स्वरूप सुनिये, मैं ऐसे (रसमय, भव–भीति विस्मारक) श्रीहरिवंश का ही गान करूँगा।

टिप्पणी–

“ ललितादिक स्यामा अरु स्याम,
श्री हरिवंश प्रेम रस धाम।”

नित्य–विहार स्वरूप के केवल चार ही अङ्ग प्रधान हैं–श्री प्रिया जी, प्रियतम श्री लालजी, सहचरि गण और श्रीवृन्दावन धाम। उक्त छन्द में इन्हीं चारों का नाम लिया गया है कि श्रीहरिवंश ही

ललितादिक सखियाँ हैं, वही श्यामा श्रीराधा हैं और वही श्याम सुन्दर श्रीलाल जी हैं। चौथा स्वरूप प्रेम रस धाम–श्रीवृन्दावन भी वही हैं अर्थात् प्रेम समुद्र श्रीहरिवंश की चार तरङ्गें 'गौर श्याम सहचरि विपिन' हैं।

मूल– (४)

श्रीहरिवंश सुजस गाईयौ,
सो रस सब रसिकनि पाईयौ।
कियौ सुकृत सबकौ फल्यौ॥
या रस में विधि नहीं निषेध,
तहाँ न लगन ग्रहन के बेध।
तहाँ कुदिन दिन कछु नहीं॥
नहिं सुभ-असुभ मान-अपमान,
नहीं अनृत भ्रम कपट सयान।
स्नान क्रिया जप-तप नहीं॥
ग्यान ध्यान तहाँ सकल प्रयास,
सुनहु रसिक हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥

भावार्थ–

श्रीहरिवंश चन्द्र ने (प्रिया प्रियतम का रस-विलास रूप) जो सुयश गान किया है उस रस को समस्त रसिक जनों ने प्राप्त किया, मानो उन सबके सुकृतों (किंवा प्रभु कृपा) का उन्हें यही फल मिला। इस प्रेम रस में (वेद-विहित) विधि और निषेध नहीं है। यहाँ लग्न (राशि नक्षत्र के योग) और ग्रहण के वेध आदि के भी दोष नहीं हैं और दिन-कुदिन का भी कोई विचार नहीं है। यहाँ शुभ अशुभ, मान-अपमान, असत्य, भ्रम, कपट चतुराई आदि कुछ नहीं है। और तो

क्या इस रस (उपासना) में स्नान, क्रिया (कर्म काण्ड, सन्ध्या-तर्पण आदि) जप, तप आदि किसी विषय की न तो महत्ता है और न आवश्यकता ही। यहाँ ज्ञान (वेदान्त ज्ञान) और ध्यान (अष्टाङ्ग योग ध्यान धारणा) केवल श्रम हैं—अत: व्यर्थ हैं।

हे रसिको ! आप श्री हरिवंश विलास का श्रवण करें मैं इन्हीं प्रेम रस प्रकाशक विधि निषेधातीत श्रीहरिवंश का गान करूँगा।

टिप्पणी—

'ग्यान-ध्यान तहाँ सकल प्रयास'

श्रीहरिवंश धर्म शुद्ध प्रेम धर्म है। प्रेम हृदय की वस्तु है कोई वाह्य आचार-विचार या क्रिया का नाम नहीं। प्रेम में वाह्य आचारों, कर्मकाण्ड, योग जप तप आदि का न तो कोई प्रयोजन है और न महत्त्व ही। प्रेम पवित्र अपवित्र स्थितियों की भी अपेक्षा नहीं रखता वह सब दशाओं में एक सा रह सकता है।

हृदय में प्रेम के उदय हो जाने पर प्रेमी अपने प्रियतम की स्मृति के बिना किसी काल में भी नहीं रह सकता, उसे अपना प्रियतम हठात् याद आता है। प्रेमी लाचार है, उसे न भुला पाने के लिये। ऐसी दशा में उसके लिये अन्य विश्व-धर्म, ग्रह-योग, लग्न, ग्रहण-वेध और शुभाशुभ, मानापमान, विधि-निषेध, जाति-कुल-विचार, उत्तम अधम का भेद, दिन-कुदिन, व्रत संयम, झूठ, कपट, भ्रम, चतुरता, स्नान, जप, तप, कर्म काण्ड, स्वार्थ, वाद-विवाद आदि वाह्य विषयों का महत्त्व तो होगा ही क्यों स्मृति भी नहीं है।

श्रीहरिवंश धर्म वह प्रेम धर्म है जिसके समक्ष ये ज्ञान-ध्यान योग आदि हेय हैं। किसी ने कहा है—

वचश्में आशिकाँ गैर अज खुदा हेच।
जमीनो आतिशो आवो हवा हेच॥

अर्थात् ''प्रेमी की आखों में और तो क्या परमात्मा (ईश्वर) भी तुच्छ है फिर यदि भौतिक तत्व पृथ्वी, आग, पानी और हवा तुच्छ हैं तो क्या आश्चर्य?''

मूल– (५)

जहाँ श्रीहरिवंश प्रेम-उन्माद,
तहाँ कहाँ स्वारथ निस्वाद।
वाद-विवाद तहाँ नहीं।।
जे श्रीहरिवंश-नाद मोहिये,
तिन फिर बहुरि न कुल-क्रम किये।
जिये काल बस ना परे।।
कुल बिनु कहौ कौन सौ चाक,
सहज प्रेम रस साँचे पाक।
रंक-ईश समुझत नहीं।।
विप्र न शूद्र कौन कुल कास,
सुनहु रसिक हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं।।

भावार्थ–

जहाँ (जिस हृदय में) श्रीहरिवंश-चन्द्र की कृपा से उदय हुआ प्रेमोन्माद है, वहाँ स्वादहीन-नीरस स्वार्थ कैसे रह सकता है? वहाँ वाद-विवाद भी नहीं रह सकता है। जो लोग श्री हरिवंश (श्री हरि की वंशी) के मधुर स्वर में मोहित हुए फिर उन्होंने कभी कुल कर्म (लोक वेद धर्म) तो किये ही नहीं। वास्तव में वे ही जीवित रहे (जीवन युक्त हैं शेष मृतवत् हैं।) वे कभी काल के वश में नहीं हुए, (काल पर भी विजय पा गये।) जो लोग सहज प्रेम रस में सच्चे एवं परिपक्व हैं वे ईश्वर को भी तो कुछ नहीं समझते फिर कुल (कर्म)

के बिना उनका बिगड़ता ही क्या है। बेचारा कुल–कर्म का चक्र है ही क्या उनके लिये? ऐसे प्रेमी रसिकों के लिये ने कोई विप्र है न शूद्र। (उनकी दृष्टि एक रसमयी हो चुकी है।) उनके लिये कौन किस कुल का? इस बात का विचार ही नहीं। (सब एक सा है) हे रसिको ! सुनिये; मैं (ऐसे प्रेम–स्वरूप) श्री हरिवंश का विलास गा रहा हूँ और उसे ही गाता रहूँगा।

मूल– (६)

या रस विमुख करत आचार,
प्रेम बिना जु सबै कृत आर।
भार धरत कत विप्र कौ॥
श्रीहरिवंश किसोर अहीर,
अरु तिन संग बनितन की भीर।
तीर जमुन नित खेलहीं॥
तिनकी दई जु जूठन खात,
आचारी निज कहत खिस्यात।
बात यहै साँची सदा॥
श्रीहरिवंश कहत नित जास,
सुनहु रसिक हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥

भावार्थ–

यदि कोई व्यक्ति इस प्रेम रस से विमुख हो कर आचार (बहुत सी पवित्रताएँ) भी करता है, तो उसके सभी कार्य प्रेम से रहित होने के कारण 'आर' (लोहे की वह नोंक जो बैलों के चूतड़ों में कोंची जाती है) के समान हैं और वह केवल आचारी पुरुष व्यर्थ ही

ब्राह्मणत्व के भार को ढो रहा है। श्रीहरिवंश किशोर (अर्थात् आपके आराध्य तत्व श्रीराधावल्लभ लाल) तो अहीर (किशोर) हैं जिनके साथ नित्य-निरन्तर कोटि-कोटि वनिताओं की अपार भीड़ रही आती है और ये सब यमुना के पुलिन पर सदा क्रीड़ा परायण रहते हैं।

प्रेमीगण इन्हीं अहीर किशोर की प्राप्त जूँठन प्रसादी पाते हैं (और जात्याभिमान से दूर रहते हैं।) यदि उन्हें कोई आचारी कह दे (तो उसे अपना अपमान समझकर) खिसया उठते हैं और है भी यही बात सच्ची– त्रिकाल सच्ची। (प्रश्न होता है कि ये लोग ऐसा क्यों करते हैं? इसका उत्तर यह है कि) श्री हरिवंश चन्द्र ही तो इस बात को सदा कहते हैं।

अतएव हे रसिक जनो ! आप श्री हरिवंश का विलास-रस सुनें; मैं ऐसे अनुपम मार्ग-प्रदर्शक श्रीहित हरिवंश चन्द्र का गान करूँगा।

टिप्पणी–

(१) **''या रस विमुख करत आचार,**
प्रेम बिना जु सबै कृत आर''–

प्रेम के बिना सब धर्म अधर्म हैं। व्रत, तीर्थ, दान, कर्म, योग व्यर्थ श्रम हैं और सारी पवित्रताएँ, मलिनताएँ हैं। यथा–

कह अचार अपरस कहा कहा व्रत संयम नेम।
कहा भजन विधि सौं बिध्यौ जौं नहिं परस्यौ प्रेम।।

–श्रीध्रुवदासजी

इसी प्रकार–

प्रेम भजन बिनु और भजन जे लवन बिना ज्यौं बिजंन।

–अलबेली अलि जी

और–

प्रेम बिना सब पचि मरे विषय वासना रोग।
विषमता बुद्धि की॥

–श्रीनन्ददास जी

और भी–

जा घट विरह न संचरै सो घट जान मसान।
जैसे खाल लुहार की साँस लेते बिनु प्रान॥

–श्रीकबीर दासजी

(२) ''आर''–

यह एक प्रान्तीय शब्द है जिसका अर्थ प्रान्तीय भाषा (मध्य प्रान्त प्राचीन नाम गोंड़वाने) में यों है–

आर एक लोहे की नुकीली कील है, जो डण्डे के सिरे पर गड़ी रहती है और जिसकी छोटी सी नोंक ऊपर रहती है। जब बैल या भैंसों की जोत की जाती है तब उस आर वाली लाठी से बैलों-भैंसों के चूतड़ों को कौंचा जाता है ताकि वे जोर से चलें।

यहाँ प्रेम के बिना समस्त कर्मों को आर की उपमा बड़ी उपयुक्त दी गयी है। ग्रन्थकार की जन्मभूमि जबलपुर के निकट गढ़ा ग्राम (मध्यप्रान्त) है और इस ''आर'' शब्द का प्रचार वहाँ ग्राम्य भाषा में अब भी है।

मूल– (७)

निसि-दिन कहत पुकारि-पुकारि,
स्तुति करहु देहु कोउ गारि।
हार न अपनी मानिहौं॥
श्रीहरिवंश-चरन नहिं तजौं,
अरु तिनके भजतिन कौं भजौं।
लजौं नहीं अति निडर ह्वै॥

श्रीहरिवंश नाम बल लहौं,
अपने मन भाई सब कहौं।
रहौं शरन हरिवंश की॥
कहत न बनत प्रेम उज्जास,
सुनहु रसिक हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥

भावार्थ–

(श्री सेवकजी कहते हैं–) मैं तो रात दिन पुकार-पुकार कर कहता हूँ और कहूँगा, फिर चाहे कोई मेरी स्तुति करे या गाली ही क्यों न दे पर मैं अपनी हार किसी प्रकार नहीं मानूँगा। श्रीहरिवंश के चरणों को नहीं छोड़ूँगा और उनका भजन करने वाले भक्तों (किंवा उनके भजनीय श्री राधावल्लभलाल) का ही मैं भजन (सेवन) करूँगा। मैं इसमें न तो लजाता हूँ और न डरता ही वरं पूर्ण निडर हूँ। मैं श्री हरिवंश नाम का बल प्राप्त करके यह सब अपनी मन भायी बातें कह रहा हूँ और रहता भी हूँ सदैव उन्हीं की शरण में। इन चरणों की शरण में मुझे जो प्राप्त है, उस प्रेम की उज्वलता कहते नहीं बनती। हे रसिको ! श्री हरिवंश का विलास सुनो, मैं ऐसे (निर्भयकारी) श्रीहरिवंश का ही गान करूँगा।

मूल– (८)

जे हरिवंश प्रेम-रस झिले,
क्यौं सोहैं लोगनि में मिले।
गिल्यौ काल जग देखिये॥
कर्म सकाम न कबहूँ करैं,
स्वर्ग न इच्छैं नर्क न डरैं।
धरैं धर्म हरिवंश कौ॥
श्रीहरिवंश धर्म निर्बहैं,
श्रीहरिवंश प्रेम रस लहैं।

ते सब श्रीहरिवंश के॥
'सेवक' तिन दासनि कौ दास,
सुनहु रसिक हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥

भावार्थ—

जो कृपापात्र जन श्रीहरिवंश चन्द्र के द्वारा प्रकाशित प्रेम रस से परिपूर्ण हो चुके हैं, वे भला जन साधारण में मिले हुए कैसे शोभा पा सकते हैं? वे विश्व को काल कवलित देखा करते हैं।

[यहाँ तक प्रेम धर्म का वर्णन करके अब संक्षेपतः प्रेमियों के लिये साधन रूप से कुछ आवश्यक सूत्र बताते हैं कि—] वह कभी भी सकाम कर्म न करे। न तो स्वर्ग की इच्छा करे और न नरकों से डरे ही। श्रीहरिवंश-धर्म को ही सदा धारण किये रहे और इसी का निवाह करे तो अवश्य श्रीहरिवंश रस (प्रेम) को प्राप्त कर लेगा। (जो इस प्रकार से श्रीहरिवंश धर्म को धारण करते हैं) वे निश्चित ही श्रीहरिवंश के निज जन हैं। 'सेवक' ऐसे श्री हरिवंश-दासों का दास है।

कितना महान् है यह धर्म? अतः हे रसिको ! आप श्री हरिवंश का रस-विलास सुनें—आदर और प्रेम पूर्वक सुनें। मैं ऐसे लोक-विलक्षण प्रेमावतार श्रीहित हरिवंश का ही गान करूँगा।

टिप्पणी—

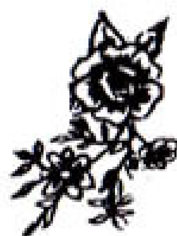
स्वर्ग न इच्छैं नर्क न डरै—

पुण्यों का परिणाम स्वर्ग और पापों का परिणाम नरक है अतः प्रेमी के लिये स्वर्ग नरक दोनों बन्धन हैं क्योंकि ये दोनों ही उसके लक्ष्य नहीं हैं। इनकी वासना से युक्त चित्त वाला व्यक्ति सच्चा मुमुक्षु भी नहीं, प्रेमी तो होगा कहाँ से? इसलिये सकामता का त्याग करके

समस्त वासनाओं से मुक्त होकर प्रेम-धर्म को धारण करे। प्रलोभन एवं भय दोनों ही प्रभु से प्रेम प्राप्त करने में बाधक हैं। स्वर्ग है सुख का प्रलोभन और नरक है साक्षात् भय।

जब तक जीव समस्त शुभाशुभों से रिक्त न हो जायगा प्रेम का अधिकारी नहीं बन सकता। अतः प्रेम-प्राप्ति में निष्कामता प्रथम और अनिवार्य साधन है।

॥ जै जै श्रीहरिवंश ॥



श्रीहित नाम प्रताप

(तृतीय प्रकरण)

पूर्व परिचय–

पहले एवं दूसरे प्रकरण में क्रमशः श्रीहरिवंश यश (व्यापकत्व) और रस–विलास का वर्णन किया गया। अब तीसरे प्रकरण में प्रथम श्रीहरिवंश नाम के स्मरण पूर्वक मंगलानुशासन करके रस–मार्ग की साधना का उपदेश करते हैं कि यदि कोई महाभाग्यवान् जीव उस दिव्य प्रेम रस का पान करने की अभिलाषा करता हो तो उसका क्या धर्म है? उसे अपने साधन काल में किस क्रम से अपनी उपासना–साधना प्रारम्भ करनी चाहिये ? कोई पूछ सकता है कि प्रेम तो साधन–साध्य नहीं बल्कि कृपा–साध्य है; फिर उसके लिये श्रीसेवक जी कैसे साधनों का विधान कर सकते हैं ? तो संक्षेप में इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि वे प्रेम–प्राप्ति के साधनों के जो स्वरूप बता रहे हैं वे साधन भी प्रेम रूप हैं और प्रेम प्राप्ति के पूर्व, नियमों का पालन आवश्यक है क्योंकि प्रेम का महल नियमों की खाई के भीतर है किन्तु वे नियम भी प्रेम रूप हैं। नियमों के पालन के उपरान्त ही कोई उसे समझ सकता है। स्वेच्छाचारी व्यक्ति उस प्रेम के स्वरूप को कभी नहीं समझ सकता। खेत, बोने के पहले जोत कर साफ किया जाता है, तब उसमें बीज डाला जाता है तो वह ऊगता भी है। झाड़–झंखाड़ युक्त खेत में बिना जोते ही बो देने से बीज तो व्यर्थ जाता ही है श्रम भी व्यर्थ जाता है।

इसी प्रकार यहाँ श्रीसेवक जी ने साधन – प्रेम के नियमों का विधान करके मानो चित्त भूमि को जोत कर तैयार किया है।

जब प्रेम-खेत हृदय तैयार हो जायगा उसमें अपने आप प्रेम-बीज उग जायगा और तब उस हृदय की क्या दशा होगी, इसका वर्णन इसी प्रकरण के अंतिम साढ़े तीन छन्दों में वर्णित है। अब ग्रंथकार साधक के प्राथमिक कर्त्तव्य धर्म का आदेश करते हैं–

मूल– (१)

श्रीहरिवंश नाम नित कहौं,
नाम प्रताप नाम फल लहौं।
नाम हमारी गति सदा।।
जे सेवैं हरिवंश सु नाम,
पावैं तिन चरननि विश्राम।
नाम रटन संतत करैं।।
नाम प्रसंग कहत उपदेस,
जहाँ यह धर्म धन्य सो देस।
धन्य सु कुल जिहि जन्म भयौ।।
धन्य सु तात धन्य सो माइ,
संतत सकल सुनहु चित लाइ।
श्री हरिवंश प्रताप जस।।

भावार्थ–

(श्रीसेवक जी कहते हैं कि मैं) सदा सर्वदा श्रीहरिवंश कहा करूँ और इस नाम के प्रताप से नाम ही फल प्राप्त करूँ क्योंकि नाम ही सदा हमारी गति है। जो लोग श्रीहरिवंश इस सुन्दर नाम का सेवन करते हैं, वे उन्हीं (श्रीहरिवंश) के चरणों में विश्राम (स्थान) पाते हैं और निरन्तर इसी नाम को रटा करते हैं।

यहाँ नाम प्रसंगवश ही यह बात विशेष कह रहा हूँ कि जहाँ यह (श्रीहरिवंश) धर्म है, वह देश धन्य है। जिस कुल में इस धर्म के

पालन करने वाले का जन्म हुआ वह कुल भी धन्य है। वह पिता, वह माता धन्य है, (जिन्होंने उसे जन्म दिया।)

भाइयो ! सब लोग चित्त देकर सदा ही श्रीहरिवंश-प्रताप-यश का श्रवण करो।

(२)

अब इस छन्द में जीव की शरणागति के पश्चात् धर्मोपदेश प्राप्त करने और श्रीहरिवंश-धर्म के रहस्य जानने की प्रक्रिया का आदेश करते हैं कि इस धर्म की दीक्षा लेने के पश्चात् साधक का क्या कर्त्तव्य है? उसे क्या-क्या करना चाहिये, जिससे वह सच्चा हित धर्मी बन जाय।

मूल–

प्रथम हृदै श्रद्धा जो करै,
आचारजनि* जाइ अनुसरै।
जहाँ-जहाँ हरिवंश के॥
रसिकनि की सेवा जब होइ,
प्रीति सहित बूझहु सब कोइ।
कौन धर्म हरिवंश कौ॥
कौन सु रीति कौन आचरन,
कौन सुकृत जिहिं पावै शरन।
क्यौं हरिवंश कृपा करैं॥

---

* आचारजनि – आचार्यगण, श्रीहित हरिवंश महाप्रभु के वंशज ही उस धर्म के दाता आचार्य हैं। सुकृत–पुण्य, सुकार्य, वह सेवा कार्य जो उनकी प्रसन्नता का हेतु हो। जिहिं– जिससे, जिसके कारण।

तब सब धर्म कह्यौ समुझाइ ,
संतत सकल सुनहु चित लाइ।
श्री हरिवंश प्रताप जस।।

भावार्थ–

(यदि प्रभु कृपा से किसी के) हृदय में (इस धर्म के प्रति) श्रद्धा का प्राथमिक उदय हो, तो वह जाकर श्रीआचार्य चरणों का अनुसरण करे। कौन से आचार्य? श्रीहरिवंशचन्द्र के (धर्मधारक एवं गोत्रज); कहाँ पावे उन्हें? जहाँ कहीं भी मिलें वे; उन्हीं की शरण ले। जब उन आचार्यों–रसिकों की सेवा से उन्हें पूर्ण प्रसन्न करले तब उनसे प्रीति–पूर्वक पूछे कि श्रीहरिवंश का धर्म क्या है? उस धर्म की रीतियाँ हैं क्या? उनका आचरण कैसे किया जाय? वह कौंन–सा सत्कार्य है जिससे श्रीहरिवंश की चरण–शरण मिलती है? और हम पर श्रीहरिवंश कैसे कृपा करेंगे?

श्रद्धालु के इतना पूछने पर वे कृपालु रसिक आचार्य गण धर्म का पूर्ण स्वरूप समझा कर कहेंगे, उसे आप सब लोग भी चित्त लगाकर श्रवण कीजिये वह श्रीहरिवंश का प्रताप–यश ही तो है।

टिप्पणी–

जिज्ञासु (साधक) के चित्त में जब कभी श्रीहरिवंश धर्म (दिव्य प्रेम–रस) के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो, तो उसे चाहिये कि वह उसी धर्म के आचार्यों, रसिकों की चरण शरण में जाकर उनका अनुगत बने, उनका शरणागत शिष्य बने और अपनी सेवा परिचर्या भावना से उन्हें पूर्ण प्रसन्न करले; ताकि वे उस पर कृपालु होकर धर्म के सारे रहस्य उससे कह दें – अपनी रस सम्पत्ति का उसे अधिकारी

मान लें। रसिकचार्यों को प्रसन्न करके साधक उनके समक्ष पाँच प्रश्न रखे–

१. कौंन धर्म हरिवंश कौ ?

२. कौंन सु-रीति ?

३. कौंन आचरन ?

४. कौंन सुकृत जिहिं पावै सरन ?

और ५. क्यौं हरिवंश कृपा करें ?

अब यहाँ इन्हीं पाँच प्रश्नों पर संक्षेपतः विचार किया जाता है–

(१) **कौंन धर्म हरिवंश कौ ?** अर्थात् श्रीहरिवंश का धर्म क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ?

उत्तर– किसी भी धर्म का मर्म उसकी धारणा में है, केवल वर्णन में नहीं। श्रीहरिवंश धर्म प्रेम धर्म है। उसे किसी प्रकार व्यक्त नहीं किया जा सकता। अतएव उसे समझने और अनुभव करने के लिये साधना की तीन भूमिकाएँ बतायी गयी हैं। क्रमशः उनमें होकर चलते जाने से अपने आप ही श्रीहरिवंश धर्म का स्वरूप समझ में आ जाता है।

इस अनन्य श्रीहरिवंश धर्म की प्राप्ति के लिये साधक का मनसा वाचा कर्मणा, अनन्य भावेन श्रीगुरुदेव की शरण में जाना, प्रथम कर्त्तव्य-धर्म है। यह श्रीगुरुदेव ही सर्वोपरि, सर्वात्मा, सर्वेश एवं सर्वातीत हैं। उत्पत्ति, पालन एवं प्रलय, सुख दुःखों के समस्त भोग, सभी कुछ इन गुरुदेव के अधीन हैं। ऐसे गुरु-तत्व केवल श्रीहरिवंश हैं, अतएव नवधा भक्ति के द्वारा मन, वचन एवं कर्म से उनका ही सेवन भजन करना चाहिये। भक्ति की चारों (आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी

एवं ज्ञानी) स्थितियों में मंगलमय श्रीहरिवंश नाम का ही भजन करते रहना चाहिये। इस शणागत जिज्ञासु का एक ही धर्म है कि वह अपने आपको पूर्ण रूपेण गुरुदेव पर निर्भर कर दे।

व्यवहार एवं स्वार्थ इस हित धर्म का विरोधी है। इन विरोधी भावों का त्याग करते हुए निरन्तर हितमय श्रीगुरु चरणों में तल्लीन होने की चेष्टा करे। इस प्रकार वह सर्वत्र अपने श्रीगुरु-तत्व का ही दर्शन करने लगेगा। इस धर्म के साधक को चाहिये कि वह सबके प्रति नम्र, क्षमावान्, सुखद, दयालु, दीन और सरल रहे और अपने धर्म में दृढ़ रहे। श्रीहरिवंश के नाम और उनकी वाणी का ही अपने हृदय में आधार और विश्वास रखे। नाम-बीज का अपनी हृदय-भूमि में रोपण करे, महदपराध रूप अग्नि और विजातीय पशुओं से बचाकर प्रेम जल से सींचता रहेगा तो कभी न कभी प्रेम भक्ति का बिरवा हृदय में लहलहा उठेगा।

श्रीहरिवंश के नाद और विन्दु* दो परिवार हैं; उन दोनों से अत्यन्त प्रीति करे, निश्छल एवं स्वार्थ रहित। अपना धन, कुटुम्ब, गृह, स्त्री, पुत्र आदि सभी कुछ इनकी सेवा में लगा दे। यह श्रीहरिवंश धर्म की प्रथम भूमिका है।

धर्म की दूसरी भूमिका है– समस्त धर्मियों से प्रीति पूर्वक अपने इष्ट की सेवा। सेवक का स्वाभाविक धर्म है कि वह अपने स्वामी का उच्छिष्ट प्रसाद पाकर ही अपना जीवन धारण करे। युगल

* जो लोग श्रीहरिवंशचन्द्र के चरणों में श्रद्धा करके उनसे, उनके वंशज गोस्वामी गणों मे, या शिष्य परम्परा के किसी भी महानुभाव से दीक्षा ग्रहण करते हैं वे नाद परिवार के धर्मी वैष्णव, विरक्त संत आदि कहे जाते हैं। तथा श्रीहित हरिवंशचन्द्र महाप्रभुपाद के वंशज बिन्दु परिवार के कहे जाते हैं, जैसे गोस्वामीगण।

किशोर एवं उनके प्रेमी संतों, उपासकों में भेद बुद्धि रहित होकर तन, मन, धन से उनकी सेवा करे। उनके ही सुख में सुखी रहे। अपनी अहंता एवं ममता को उन्हीं के चरणों में लय करदे।

श्रीहित हरिवंशचन्द्र का जो धर्म है, वही उनके वंशजों का और वही उनके सेवक-दासों का भी है। वह यह कि श्रीयुगल किशोर, रसिक भक्तजन एवं श्रीवृन्दावन से छल रहित प्रीति और उनकी सेवा। नाम और वाणी में चित्त लगाये रहे। ऐश्वर्य भाव के त्याग पूर्वक माधुर्य पद्धति से इन तदीय जनों के प्रति आत्मवत् पुत्रवत् अत्यन्त गाढ़ भाव से प्रीति ही करे। इन्हींके लिये धर्म पूर्वक सम्पत्तियों का संग्रह करे और सेवा करके उन्हें प्रसन्न करे, उनके ही उच्छिष्ट प्रसाद एवं कृपा की आशा रखे। प्रभु के उच्छिष्ट प्रसाद एवं चरणामृत का सर्वत्र आदर करे और उसे सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वस्व समझे।

अपने आराध्य देव श्रीराधावल्लभलाल की आसक्ति में अन्यान्य विश्व आसक्तियों को लय करदे। तभी उनका प्रत्यक्षीकरण हो सकता है। अपने आराध्य श्रीराधावल्लभ एवं गुरुगृह में विराजमान् विजय स्वरूप में कोई भेद बुद्धि न करे, सबका समादर करे। श्रीहित हरिवंश, इष्टदेव श्रीराधावल्लभलाल, श्रीवृन्दावन धाम एवं धर्मी उपासक गणों में समान बुद्धि रखने वाला ही वास्तविक धर्म-मर्मी है।

धर्म की तीसरी भूमिका में अपने मन को स्थूलताओं से उठाकर सूक्ष्म की ओर ले जाना होगा तभी रस की उत्पत्ति होगी। इसके लिये विषय-वासनाओं के सर्वथा त्याग पूर्वक इन्द्रिय निग्रह और मन का दमन करे- उसे विवेक विचारों से पराहत करता रहे। चित्त के द्वारा श्रीराधावल्लभलाल के परम रमणीय कोटि काम लावण्य हारी रूप का निरन्तर चिन्तन करता रहे।

नित्य-विहार तत्व का प्रत्यक्ष दर्शन करे। नित्य विहार के चार अङ्गों- प्रिया, प्रियतम, श्रीवृन्दावन और सहचरि गणों का प्रकट दर्शन इस प्रकार करे कि महली श्रीराधावल्लभलाल प्रकट विराजमान् हैं और प्रगट धाम श्रीवृन्दावन ही नित्य विलास भूमि है। सखियाँ ही वृन्दावन के नर-नारियों के रूप में प्रकट हैं और निरन्तर सेवा में तल्लीन हैं, ऐसी भावना करे।

इस प्रकट भाव की नींव दृढ़ होने पर ही चित्त में रस का उदय होगा और अनादि सिद्ध मायिक भाव पर विजय होकर वृन्दावन रस में चाव बढ़ेगा। इस श्रीवृन्दावन रस-क्षेत्र में भाव एवं अभाव की रार (लड़ाई) है; इनमें से भाव तो अपनी आराध्य वस्तु से मिला देता है और अभाव उससे दूर करके साधक के चित्त में घोर संसार उत्पन्न कर देता है, अत: साधक के लिये यही उचित है कि कहीं भी अभाव न करके सर्वत्र सद्भाव ही करे।

प्रकट लीला लोकवत् है परन्तु नित्य नहीं है अत: साधक प्रकट लीला की भावना के द्वारा अपने चित्त में अन्तरङ्ग लीला को प्रवेश करावे। यह प्रकट लीला, नित्य लीला न होकर प्रेमोदय और भावोदय का साधन है ऐसा ध्यान रखना चाहिये।

गृहस्थी एवं विरक्तों के विचार से उनकी रहनी के स्तरों में भेद है। विरक्त के लिये जीविका उपार्जन की चार वृत्तियाँ हैं- चुटकी वृत्ति, (आटा आदि या कच्चे धान्य माँग लेना), मधुकरी वृत्ति (भ्रमर जैसे फूल फूल से रस लेकर केवल उदर पूर्ति कर लेता है उसी प्रकार विरक्त महात्मा भी घर-घर से थोड़ा-थोड़ा सिद्धान्न लेकर केवल उदर पूर्ति करे), अनायासी या आकाशी वृत्ति और करपात्री वृत्ति। गृहस्थी का धर्म है वह धर्म और न्याय पूर्वक कुछ उद्यम करे और धनोपार्जन करे या आकाशी वृत्ति स्वीकार करे। उसे चुटकी, मधुकरी या करपात्री वृत्तियों का अधिकार शास्त्र ने नहीं दिया है।

उपरोक्त सब करता हुआ माया के प्रपञ्च विलास से दूर रहने की पूरी चेष्टा रखे। इसके सिवाय भजन के पाँच विघ्न और हैं उन्हें भी अपनी दृष्टि में रखे और उनसे बचे। वे ये हैं– मनमुखी साधना, जीविका दोष (दूषित द्रव्यों का व्यवहार, खान-पान आदि) कुसङ्ग, व्यभिचार और भक्तों का अनादर। इन पाँच विघ्नों से बचकर अपनी अन्तरङ्ग भावना में लीन होने का प्रयास करता रहे; संक्षेप में यही श्रीहरिवंश धर्म है।

(२) **कौंन सुरीति ?** अर्थात् श्री हरिवंश धर्म के पालने की सुन्दर रीति क्या है?

उत्तर– श्रीहरिवंश धर्म का स्वरूप जान लेने के पश्चात् उसके पालन करने की शैली जानना आवश्यक है। इस रीति का श्रीसेवकजी ने अपनी वाणी के आठवें प्रकरण में विस्तार पूर्वक वर्णन किया है वहाँ देखना चाहिये। इसके सिवाय यहाँ भी संक्षेपतः लिखा जाता है।

श्री युगल किशोर नित्य निरन्तर श्रीवृन्दावन में विहार करते हैं इसी विहार-रस का गान श्रीहिताचार्य पाद एवं अन्य रसिक जनों ने अपनी-अपनी वाणियों में किया है वही सर्वस्व एवं सार स्वरूप है अतएव अन्यत्र कहीं मन न देकर उसी का श्रवण और मनन करते रहना चाहिये। इस रस के उपासक रसिकों का ही सङ्ग करना चाहिये, अन्य का नहीं। रसिकों का चिन्तनीय रस यह है–

श्रीहित लाड़िले युगल किशोर परस्पर अत्यन्त आसक्त हुए चन्द्र-चकोरवत् रूप रस का पान कर रहे हैं दोनों के मन-मीन सहजानन्द रस समुद्र में लीन हैं। इस रूप दर्शन के अनादि कालीन प्रथम क्षण में ही अपार कल्प बीत गये पर दोनों को अभी इसका पता तक नहीं चल पाया है। ये युगल-किशोर इस नित्य-मिलन में अवर्णनीय अनादि

एवं अनन्त किन्तु प्रतिक्षण नूतन सुख और रस का आस्वादन करते रहते हैं। दोनों सहज आत्म रति पूर्वक समस्त आवरणों को हटाकर सर्वसार सुरस– इस विहार केलि का ही पान करते और भोग–सुख लेते रहते हैं।

बस यह है रस भावना। इसके ज्ञाता और अनुभवी, रसिक कहे जाते हैं तथा इसके प्राप्ति की कुञ्जी है– प्रकट अष्टयाम सेवा परिचर्य्या।

साधक का स्वरूप है नित्य किशोरी परम रूप लावण्यमयी नव यौवना सखी। सखी का वपु दिव्य है, त्रिगुणातीत है, शुद्ध, बुद्ध है आनन्द मय है और एकमात्र प्रेम तत्व से निर्मित है। इस रस का साधक अपने इसी भाव में भावित होकर–पाञ्च भौतिक स्थूल देह के भावों से उठकर उपरोक्त भाव (नित्य–विहार–केलि) की भावना करे एवं इसी में तल्लीन होकर व्यवहार एवं परमार्थ तक भूल जाय, बस इतनी ही श्री हरिवंश धर्म– प्रेम की सुरीति है।

(३) **''कौन आचरन''** श्री हरिवंश धर्म का आचरण क्या है?

संक्षेप में श्रीसेवकजी ने ही इसका उत्तर दे दिया है। इतना ही आचरण पर्याप्त है कि–

श्रीहरिवंश चरन नहिं तजौं,
अरु तिनके भजतनि कौं भजौं,
लजौं नहीं अति निडर ह्वै।

इसका विस्तार इस प्रकार है कि श्रीहरिवंश धर्मी साधक का धर्म है कि जहाँ कहीं और जितने भी अपने इष्ट धर्मीगण हों उन्हें अपना शिरोभूषण माने। गुरु, इष्ट, वैष्णव–गण, भक्त, रसिक–गण, श्रीवृन्दावन धाम, स्वधर्म एवं भगवत्प्रसाद को ही सर्वस्व समझे और इन्हीं का आराधन करे; क्योंकि ये सभी श्री हरिवंश के प्रिय स्वरूप हैं। जिस जगह उक्त कथित स्वरूपों की इष्टता, प्रधानता और आराध

ना नहीं है वहाँ जल और भोजन की कौन कहे, बात करना भी हानि कारक है—धर्म से गिरा देने वाला है। जिन मन्दिरों में अपना हित नाम, हित वाणी एवं नाद बिन्दु परिवार में से कोई भी नहीं है वहाँ एकता सम्बन्ध करना मानो अपने हृदय का स्वयं नाश कर लेना है, किन्तु जहाँ अपनी उपासना सम्बन्धी अहंता-ममता मिल जाय, वहाँ मिल रहना सुख एवं आनन्द का हेतु है, ऐसा श्रीहित ध्रुवदासजी ने भी कहा है—

इष्ट मिलै अरु मन मिलै, मिलै भजन रस रीति।
मिलिये ताहि निंसक ह्वै, कीजै तासौं प्रीति॥

श्रीहरिवंश धर्मियों के लिये किसी वेदत्रयी की आवश्यकता नहीं है, उनका वेद है श्रीराधा सुधा निधि और पुराण है श्रीहित चौरासी। सेवक-वाणी तन्त्र शास्त्रों का काम करती है— उसीसे एक अद्वय प्रेम-ब्रह्म की सिद्धि होती है। इसके सिवाय जिन-जिन ग्रन्थों में अपने इष्ट एवं धर्म का वर्णन है वे भी धर्मी-उपासक के पठनीय शास्त्र हैं। चूँकि वैष्णव मात्र सभी भगवद् सेवक हैं किन्तु जो दामोदर श्री सेवकजी की वाणी के अनुसार अपना जीवन बना चुके हैं वही वास्तविक सेवक हैं उनका ही संग करे।

वाह्य लक्षणों में तिलक, कण्ठी, नाम-छाप ये हित-धर्मी के शृङ्गार हैं। अपने प्रभु को प्रतिदिन उत्तम से उत्तम भोग लगाकर वैष्णव-जनों को प्रसाद देना ही इस रसोपासक का व्रत है। श्रीव्यास नन्दन हरिवंश चन्द्र, मंत्र दाता श्रीगुरूदेव, इष्टाराध्य श्रीराधा एवं रसिकेन्द्र लालजी के जन्मोत्सव मनाना, ये चार बधाइयाँ हैं। इसी प्रकार श्रावण शुक्ला तीज को श्रीसेवक जी का जन्मोत्सव मनाना भी सेवक उपासक का परम धर्म है।

इसके सिवाय फाग-डोल, चन्दन-वसन, तीज-हिण्डोल, झूला, शरदोत्सव, पाटोत्सव, गुरु पूजा, दीप-मालिका की प्रतिपदा, वन विहार, खिचड़ी और वसन्त ये दस उत्सव भी आवश्यकीय हैं इनका मनाना भाव एवं रस की वृद्धि करने वाला है।

इन उपरोक्त उत्सवों का भाव रस विहार में भी घटित किया जाता है जो सुहृद्-गम्य है।

इस साधक की विधि है-अपने इष्ट की अखण्ड स्मृति और निषेध है विश्व प्रपञ्च की आत्यन्तिक विस्मृति। वृन्दावन वासी स्थिर चर सब में इष्ट भावना ही इस प्रेमी साधक का ज्ञान है। अन्य विचारों का त्याग ही इसका वैराग्य है।

अस्तु, श्रीहरिवंश धर्मी के लिये उक्त आचरण पालनीय हैं।

(४) कौन सुकृत जिहिं पावै सरन—वह कौन सा सुन्दर कार्य या पुण्य है जिससे श्रीहरिवंश चन्द्र की चरण-शरण प्राप्ति होती है?

उत्तर— प्रथम 'शरण' शब्द का अर्थ और उसका स्वरूप जानना आवश्यक है। शरण का अर्थ है अन्याश्रय त्याग पूर्वक अपने इष्ट देव का गाढ़ अनुराग युक्त चरणावलम्ब। इसी का स्पष्ट रूप श्री राधा सुधा निधि में श्री हिताचार्य ने यों समझाया है—

उच्छिष्टामृत भुक्तवैव चरितं श्रण्वंस्तवैव स्मरन्-
पादाम्भोज रजस्तवैव विचरन्कुञ्जास्तवैवालयान्।
गायन्दिव्य गुणांस्तवैव रसदे पश्यंस्तवैवाकृतिं,
श्रीराधे तनुवाङ्मनोभिरमलैः सोहं तवैवाश्रितः॥

-राधासुधा निधि २४०

अर्थात्— ''हे श्रीराधे ! हे रसदे ! तुम्हारे ही उच्छिष्ट अमृत भोजन करने वाली मैं, तुम्हारे ही चरित्रों का श्रवण करती हुई, तुम्हारे ही कुञ्ज

भवन में विचरण करती हुई, तुम्हारे ही दिव्य गुण गणों का गान करती हुई एवं तुम्हारी रसमयी आकृति (छवि) का दर्शन करती हुई, शुद्ध काय, मन और वचन से केवल तुम्हारी ही आश्रिता हूँ।"

शरणागति में बाधक हैं अहंता और ममता। अहंता एवं ममता के रहते सर्वत्र भय और कामनाएँ रहती हैं, अतः इन्हें प्रभु के श्रीचरणों में अर्पित करके साधक इनसे रहित हो जाय। तभी वह हित-तत्व की प्राप्ति कर सकता है। बहुत स्पष्ट है कि अहंता पूर्ण चित्त से प्रेम की प्राप्ति आज तक न किसी को हुई और न भविष्य में भी हो सकेगी। इसलिये सर्वप्रथम अहंता की जड़ उखाड़े अर्थात् उसे श्रीचरणों में चढ़ा दे।

अहंता के मिटे बिना परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती एवं परमानन्द प्राप्त हुए बिना सुख-(भक्ति का सुख) नहीं मिल पता। साधक को चाहिये कि वह श्री हरि, गुरुदेव, हरिजन, एवं सत्पुरुषों की सेवा करे, जीवों पर दया करे, एवं निरन्तर प्रभु के नाम और गुणों का ही गान करे। भक्तों की उच्छिष्ट प्रसादी एवं वस्त्रों को आदर पूर्वक ग्रहण करे और श्रीहित-गिरा एवं नाम का निरन्तर गान करे। अपनी निन्दा-स्तुति, मान-अपमान में समभाव रखते हुए जगत् को विनाशी और मिथ्या देखता रहे तथा वैराग्य को दृढ़ बनाये रखे। सुख-दुःख सम्बन्धी अपनी एवं परायी चिन्ताओं के भार से मुक्त रहे। कभी शिष्य न बनावे क्योंकि शिष्य बनाना अभिमान का हेतु है। इससे द्वेष, घृणा, लोभ आदि अनेक दोषों की उत्पत्ति होती है। रसिक जनों का ही सत्सङ्ग करे, उनका चरणामृत प्रसाद ले। दुष्ट एवं बुरे लोगों का भूलकर भी सङ्ग न करे। इस प्रकार सब अनुकूलताओं के ग्रहण एवं प्रतिकूलताओं के परित्याग पूर्वक श्रीहरिवंश चरणों का आश्रय ही महान् सुकृत है। यही उनकी शरण प्राप्ति का साध्य एवं साधन है।

(५) **क्यों हरिवंश कृपा करैं**—अर्थात् श्रीहरिवंशचन्द्र किसी पर यदि कृपा करते हैं तो किस कारण कों लेकर कृपा करते हैं—जीव उनकी कृपा का अधिकारी कैसे हो सकता है?

उत्तर— यों तो प्रभु की कृपा सब जीवों पर सदा ही है तथापि सन्त-महात्माओं का कथन है कि कृपा का दर्शन आज्ञाकारिता में होता है। दूसरे शब्दों में आज्ञा पालन ही कृपा पात्रता है। महात्मा जन कहते हैं—

कृपा-कृपा सब कोऊ कहैं कृपा न जानै कोइ।
कृपावंत सो जानिये, (जो) आज्ञा वर्त्ती होइ॥

—श्रीलाड़िलीदास जी

जबकि अनन्य एवं गुरु आज्ञावर्त्ती ही कृपा का अधिकारी है तब साधक का परम धर्म है कि कृपा प्राप्त करने के लिये श्रीहिताचार्य पाद की इस आज्ञा का पालन करे—

(जैश्री) हित हरिवंश प्रपंच बंच सब काल व्याल कौ खायौ।
यह जिय जानि स्याम स्यामा पद कमल संगी सिर नायौ॥

एवं—

सबसौं हित निष्काम मत, वृंदावन विश्राम।
राधावल्लभलाल कौ, हृदय ध्यान मुख नाम॥

श्रीराधावल्लभलाल ही रसिक साधक के जीवन-सर्वस्व हैं, अतएव मन, वचन, कर्म किवां तन-मन, धन त्रिविध प्रकार से इन्हीं का सेवन करे। हित की पद्धति से इनमें आसक्ति करे और सर्वत्र इन्हीं का दर्शन करता हुआ अनन्य हो जावे, बस इतना ही श्री हरिवंश कृपा की प्राप्ति का सरलतम मार्ग है।

(३)

अब हित धर्मी साधक के लिये प्राथमिक साधन-शैली का वर्णन करते हैं—

मूल–

प्रथमहिं सेवहु गुरु के चरन,
जिन यह धर्म कह्यौ सब करन।
नाम-प्रताप बताइयौ।।
जो श्री हरिवंश नाम अनुसरहु,
निशिदिन गुरु कौ सेवन करहु।
सकल समर्पन प्रान-धन ।।
गुरु-सेवा तजि करहिं जे बानि,
यहै अधर्म यहै सब हानि।
कानि न रसिकनि में रहै।।
गुरु-गोविन्द न भेद कराइ,
संतत सकल सुनहु चित लाइ।
श्री हरिवंश-प्रताप जस।।

भावार्थ–

(इस प्रकार पूर्व कथित रीति से) सर्व प्रथम श्रीगुरु चरणों का सेवन करो जिन्होंने इस (हित) धर्म के पालन करने के लिये आज्ञा दी और जिन्होंने नाम का प्रताप बताया है। यदि तुम वास्तव में श्रीहरिवंश नाम का अनुसरण (आश्रय) कर रहे हो तो तुम्हें चाहिये कि अपने प्राण, धन और सर्वस्व के समर्पण पूर्वक दिन रात श्रीगुरुदेव का ही सेवन करो। जो लोग श्री गुरू-सेवा को छोड़कर अन्य साधनों में मन लगाते हैं, यही उनका अधर्म और बड़ी भारी हानि है। ऐसे हठशील अधर्मी की रसिकों में कोई प्रतिष्ठा या मर्यादा मान नहीं रह पाता। अतएव सच्चे उपासक का धर्म है कि वह श्री गुरुदेव एवं गोविन्द में कोई भेद न देखे न करे।

श्रीसेवक जी कहते हैं– रसिको ! आप निरन्तर चित्त लगाकर श्रीहरिवंश का प्रताप-यश सुनिये।

टिप्पणी–

(१) **''प्रथम जु सेवहु गुरु के चरन''**

सर्वप्रथम सर्व भावेन श्री गुरुदेव के ही चरणों के सेवन करने और उनके प्रति निष्ठा दृढ़ करने का यह अभिप्राय है कि इन्हीं श्रीगुरुदेव की कृपा से जीव की रति श्रीहित चरणों में हुई है अत: यही सर्व प्रथम सेव्य हैं। अनादिकालीन भव-ग्रस्त जीव को भगवान् की ओर लगा देने का ही उनका उपकार अनन्त है अत: वे प्रथम और अनन्त काल तक सेवनीय हैं।

(२) **''गुरु गोविन्द न भेद कराइ''**

वास्तव में भगवान् और गुरु में कोई भेद तो है ही नहीं, श्रुति कहती है–

''यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।''

अर्थात् ''जिसकी भगवान् में पराभक्ति है और जैसी भगवान् में है वैसी ही गुरू में है, तो वही मोक्ष का अधिकारी है।

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव के प्रति श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध में कह रहे हैं–

''आचार्यं मां विजानीयात्।''

अर्थात् ''आचार्य (गुरु) रूप में मुझे ही जानो।''

महात्मा कबीर तो शास्त्र से भी ऊपर उठकर कह गये। उन्होंने गुरुदेव का पद गोविन्द से बड़ा दिखा दिया–

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पायँ।
बलिहारी इन गुरुन की, गोविन्द दिया लखाय।।

ठीक तो है, गोविन्द को मिला देने वाले गुरुदेव ही तो हैं, अतः वही गोविन्द से पूर्व वन्दनीय हैं। ऐसा ही कुछ गुरु-तत्व के विषय में नाभाजी ने कहा है–

भक्ति, भक्त, भगवंत, गुरु चतुर नाम वपु एक।
इनके पद बंदन किये मैंटत विघ्न अनेक।।

(४)

पुनः साधन-शैली का ही निर्देश करते हैं–

मूल–

गुरु-उपदेश सुनहु सब धर्म,
श्रीहरिवंश-नाम फल-मर्म।
भर्म भग्यौ बचननि सुनत।।
सुक मुख-वचन जु श्रवन सुनावहु,
तब श्रीहरिवंश सु नाम कहावहु।
मन सुमिरन बिसरै नहीं।।
हरि, गुरु, चरन, सेवा अनुसरहु,
अर्चन-बंदन संतत करहु।
दासंतनि करि सुख लहौ।।
सख्य समर्पन भक्ति बढ़ाइ,
संतत सकल सुनहु चित लाइ।
श्री हरिवंश प्रताप जस।।

भावार्थ–

श्रीगुरुदेव के उपदेश से सम्पूर्ण धर्म का श्रवण करो, जिसका मर्म अर्थात् रहस्य श्रीहरिवंश नाम ही है। श्रीगुरु के प्रकाशमय वचनों को सुनते ही तुम्हारा भ्रमरूपी अज्ञान-अन्धकार भाग जायगा।

पहले जब श्रीशुकदेव जी के श्रीमुख-वचन (श्रीमद्भागवत पुराण) तुम्हारे द्वारा सुने जायेंगे, तब तुम्हें (सारासार विवेक होकर) श्रीहरिवंश नाम में निष्ठा होगी – तुम उस नाम को कह सकोगे। (यदि इस प्रकार क्रम से तुम चल सके तो फिर तुम्हारा) मन (उन श्रीहरिवंश के) स्मरण को कभी भूलेगा ही नहीं। फिर भी तुम साथ-साथ श्रीहरि (राधावल्लभ लाल) और श्रीगुरु के चरणों की सेवा का अनुसरण ही करना, निरन्तर उनके प्रति अर्चन और वन्दन करते रहना एवं उनकी सेवा आदि करके दास्य सुख प्राप्त करना। पश्चात् नवधा क्रम से सख्य और अन्तिम आत्म-समर्पण पूर्वक सेवन करने से भक्ति अभिवृद्धि को प्राप्त होती है। श्रीहरिवंश प्रताप-यश की प्राप्ति का यही पथ है, उसे सब लोग चित्त लगाकर सुनिये।

टिप्पणी–

''सुक मुख वचन जु श्रवन सुनावहु।''

श्रीमद्भागवत पुराण ही शुकदेव जी का श्रीमुख वाक्य है। इसमें आद्यन्त एक भगवतत्त्व का ही निरूपण है। इसके श्रवण एवं मनन से साधक के चित्त में वैराग्य ज्ञान के साथ-साथ स्व एवं पर (आश्रय तत्व श्रीकृष्ण) तत्व का बोध हो जाता है। भागवत शब्द का अर्थ ही है– भगवान् के रूप की समझ। जिसे भगवान् के स्वरूप की ठीक-ठीक जानकारी हो गयी, वही उनके प्रति अनन्य प्रेम कर सकेगा और वही गोविन्द और गुरु के अभेद तत्व को समझ सकेगा, अतः स्पष्ट है कि ''शुक मुख वचन'' का सच्चा श्रोता ही श्रीहरिवंश नाम का अधिकारी है। और जो श्रीहरिवंश नाम का अधिकारी है, वह उनकी सम्पत्ति नित्य विहार का भी अधिकारी है। इसी क्रम को ध्यान में रखते हुये रसिकों ने कहा है–

प्रथम सुनै भागौत भक्त मुख भगवत बानी।
द्वितीय अराधै इष्ट व्यास नौं भाँति बखानी॥
तृतीय करै गुरु दक्ष परम सर्वज्ञ रसीलौ।
चौथे होइ विरक्त बसै बनराज जसीलौ॥
पाँचै बिसरै देह सुधि तब छठें भावना रास की।
सातें पावै रीति रस श्रीस्वामी हरिदास की॥

– श्रीभगवत रसिक जी

मूल- (५)

गुरु-उपदेश चलहु एहिं चाल,
ऐसी भक्ति करै बहु काल।
ये नव लच्छन भक्ति के॥
यह हरि-भक्ति करै जब कोइ,
तब श्रीहरिवंश नाम रति होइ।
यह जु बहुत हरि की कृपा॥
हरि-हरिवंश भेद नहिं करै,
श्रीहरिवंश नाम उच्चरै।
छिन-छिन प्रति बिसरै नहीं॥
प्रीति सहित यह नाम कहाइ,
संतत सकल सुनहु चित लाइ।
श्री हरिवंश-प्रताप जस॥

भावार्थ–

श्रीगुरुदेव द्वारा उपदेश की गयी पद्धति का अनुसरण करते हुए बहुत काल तक भक्ति करता रहे। यदि कोई ऐसी नवधा भक्ति करता रहेगा, तो अवश्य उसकी श्रीहरिवंश नाम में निष्ठा हो जायगी, यह श्रीहरि

की बहुत बड़ी कृपा है। साधक को चाहिये कि वह हरि और हरिवंश में भेद बुद्धि न करके प्रतिक्षण हरिवंश नाम का ही उच्चारण करता रहे; इसका विस्मरण न करे– इसे भूले नहीं वरं प्रीति पूर्वक इस नाम को लिया ही करे।

रसिको ! श्रीहरिवंश का यह प्रताप यश चित्त लगाकर सुनो।

टिप्पणी–

''ये नौ लच्छन भक्ति के''

श्रीमद्भागवत में भक्ति के नौ लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं–

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।

(७।५।२३)

अर्थात् भगवान् की भक्ति के नौ भेद हैं– श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चा, वन्दना, दास्य (सेवा), सख्य और सर्वात्म समर्पण।

मूल– (६)

गुरु-उपदेश चलहु एहि रीति,
श्रीहरिवंश-नाम-पद-प्रीति।
प्रेम मूल यह नाम है।।
प्रेमी रसिक जपत यह नाम,
प्रेम मगन निजु बन विश्राम।
श्री हरिवंश जहाँ रहैं।।
प्रेम प्रवाह परै जन सोइ,

तब क्यौं लोक-वेद-सुधि होइ।
जब श्रीहरिवंश कृपा करी॥
व्रत-संयम तब कौन कराइ,
संतत सकल सुनहु चित लाइ।
श्री हरिवंश प्रताप जस॥

भावार्थ–

यदि श्रीगुरुदेव के उपदेश के अनुसार इस (ऊपर कही गयी नवधा-भक्ति एवं हरिवंश नाम-स्मरण की) रीति से चलोगे तो श्रीहरिवंश नाम और चरणों में प्रीति हो जायगी, क्योंकि यह (हरिवंश) नाम प्रेम का उद्गम स्थल है। प्रेमी रसिक जन इस नाम को जपते हैं और इस नाम के प्रताप से प्रेम मग्न हुए श्रीहरिवंश के निज-वन (ऐकान्तिक केलि भूमि श्रीवृन्दावन) में अचल विश्राम पा रहे हैं जहाँ निरन्तर श्रीहरिवंश रहते हैं। इस नाम का जापक जब प्रेम के प्रवाह में पड़ जायगा तो भला उसे लोक एवं वेद की मर्यादाओं की सुधि कैसे हो सकती है? जबकि उस पर स्वयं प्रेम रूप श्रीहरिवंश ने कृपा की है, तब व्रत और संयम कौन कर सकता है? (अर्थात् प्रेमी तो केवल अपने प्रभु के रूप में तल्लीन हो जाता है, उसे फिर बाह्य आचारों और मर्यादाओं की खबर तक नहीं रह जाती।) हे रसिको! यह है श्रीहरिवंश का प्रताप-यश, आप चित्त देकर इसका श्रवण करें।

टिप्पणी–

''प्रेम प्रवाह परै जन सोइ ,
तब क्यों लोक-वेद-सुधि होइ।''

प्रेम प्रवाह में पड़े हुए प्रेमी की दशा का एक चित्र महात्मा श्रीसुन्दरदास जी ने क्या ही अच्छा चित्रित किया है। वह लोक और वेद से कितने ऊपर उठ गया है? पाठक देखें–

प्रेम लग्यौ परमेसुर सौं तब भूलि गयौ सिगरौ घर वारा।
ज्यौं उन्मत्त फिरै जित ही तित नैंकु रही न सरीर सँभारा॥
स्वाँस उसाँस उठैं सब रौंम चलै दृग नीर अखंडित धारा।
सुंदर कौन करै नवधा विधि छाकि रह्यौ रस पी मतवारा॥
न लाज तीन लोक की, न वेद को कह्यौ करै।
न संक भूत प्रेत की, न देव यच्छ तैं डरै॥
सुनै न कान और की, द्रसै न और इच्छना।
कहै न मुक्ख और बात, सुभक्ति प्रेम लच्छना॥

(७)

जो साधक श्रीहरिवंश नाम के प्रताप और जाप से प्रेम प्रवाह में फँस गया, उसके बाह्य लक्षणों का वर्णन सात और आठ दो छन्दों में क्रमशः करते हैं–

मूल–

जब यह नाम हृदै आइ है,
तब सब सुख-संपति पाइ है।
श्रीहरिवंश सुजस कहै॥
अरु अपनी प्रभुता नहिं सहै,
तृन ते नीच अपनपौ कहै।
सुभ अरु असुभ न जानही॥
समुझै नहीं कछू कुल-कर्म,
सूधौ चलै आपने धर्म।
रसिकनि सौं प्रीतम कहै॥
कबहूँ काल वृथा नहिं जाइ,
संतत सकल सुनहु चित लाइ।
श्री हरिवंश प्रताप जस॥

भावार्थ–

जब यह (श्रीहरिवंश) नाम (साधक के) हृदय में आवेगा, तभी वह सब सुख और सम्पत्ति (प्रेमरूपी धन) प्राप्त करेगा और हरिवंश के पवित्र यश का गान करेगा। वह अपने आपको तृण से तुच्छ मानेगा अर्थात् उसका स्वाभिमान् होगी 'लघुता'। वह अपने बड़प्पन का भार नहीं सह सकेगा; उसे शुभ एवं अशुभ दोनों से उपरामता हो जायगी। वह (प्रेम की इस उन्मत्त दशा में) कुलोचित आचार-विचार रूप कर्मों को भी नहीं समझना चाहेगा, वह तो सीधे सरल ढंग से अपने (अनन्य हित) धर्म का पालन करेगा। वह रसिकजनों को प्रिय-तम (इष्टवत् परम प्रिय) भाव से देखेगा, यही समझेगा और कहेगा। ऐसे रस मग्न प्रेमी हित-धर्मी का एक क्षण भी कभी व्यर्थ नहीं जाता, क्योंकि वह सदा अपने भाव में विभोर है।

सेवकजी कहते हैं– भाइयो ! चित्त लगाकर ऐसे महिमाशाली श्रीहरिवंश के प्रताप यश का श्रवण करो।

टिप्पणी–

समुझै नहीं कछू कुल-कर्म ,
सूधौ चलै आपने धर्म।

श्रीहिताचार्य पाद के अतिरिक्त प्रायः सभी भक्ति मार्गीय आचार्यगणों ने कर्म एवं ज्ञान मिश्रा भक्ति का प्रचार किया है। शुद्ध भक्ति केवल इन्होंने बतायी है, अतः इनके शुद्ध प्रेम धर्म में कर्म-ज्ञान आदि का स्वाभाविक तिरस्कार है। इस प्रेम धर्म का उपासक प्रेम-रस में मत्त होकर, अनन्य होकर, अन्य सब भूल जाता है। वैसे भी प्रेमोदय के पूर्व तक ही कर्म मार्ग का महत्व है प्रेमोदय के पश्चात् नहीं, स्पष्ट है–

"तावत्कर्म कुर्वीत यावद्रतिर्नजायते।"

—श्रीद्भागवत

अर्थात् "कर्म तब तक करने चाहिये, जब तक (श्रीकृष्ण चरणों में) रति-प्रीति का उदय न हो जाय।"

इसी सिद्धान्त के अनुसार श्रीहित राधावल्लभीय सम्प्रदाय में समस्त लौकिक वैदिक कर्मों (यज्ञ, सन्ध्या, तर्पण, श्राद्ध आदि) का परित्याग है। और यह भी निर्णीत है कि कोटि-कोटि कल्पों तक कर्म करते रहने पर भी कभी भक्ति या ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। श्रीआद्यशंकराचार्य पाद ने कहा है—

"ज्ञानविहीने सर्वमनेन मुक्तिर्नभवति जन्म शतेन।"

अर्थात् "इन समस्त अन्यान्य साधनों के करने पर भी ज्ञान के बिना शत्-शत् जन्मों तक मुक्ति नहीं हो सकती।"

मूल— (८)

जब हरिवंश नाम जानि है,
तब सब ही तें लघु मानि है।
हँसि बोलै बहु मान दै॥
तरु सम सहन शीलता होइ,
परम उदार कहैं सब कोइ।
सोच न मन कबहूँ करै॥
श्रीहरिवंश सुजस मन रहै,
कोमल बचन रचन मुख कहै।
परम सुखद सबकौं सदा॥
दुखद बचन कबहूँ न कहाइ,
संतत सकल सुनहु चित लाइ।
श्री हरिवंश प्रताप जस॥

भावार्थ–

जब उपासक श्रीहरिवंश नाम (की यथार्थता) जानेगा तब वह अपने आपको सबसे छोटा (दीन) मान लेगा और सबको सम्मान देता हुआ ही उनसे हँसकर प्रसन्नता पूर्वक बोलेगा। उसमें वृक्ष के समान सहन शीलता होगी और उसे सभी लोग परम उदार कहेंगे, उसे चिन्ता तो कभी किसी बात की न होगी। उसका मन श्रीहरिवंश के सुयश में ही रमेगा, उसकी वचन रचना (सम्भाषण-शैली) बड़ी कोमल होगी और वह सबके लिये सदा सर्वदा सुखद ही होगी, वह दुःखद वचन तो कभी बोलेगा ही नहीं।

आप लोग सब ऐसे श्रीहरिवंश प्रताप यश का गान सुनिये।

टिप्पणी–

(१) **तब सबही तें लघु मानि है–**

लघुता, सम्मान-दान, सहनशीलता, उदारता, निश्चिन्तता, प्रभु लीला-नाम गान रुचि, कोमल वचन-रचना, सर्व सुखद-भाव, समय की अव्यर्थता आदि अनेकों सद्गुण जो इस छन्द में कहे गये हैं, ये और इनके सिवाय और भी अनेकों सद्गुण श्रीहरिवंश कृपा से धर्मी के हृदय में आ जाते हैं। इसी बात को प्रकार-भेद से श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु ने भक्तों के स्वभाव के रूप में वर्णन किया है–

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥

अर्थात् ''भक्त अपने को तृण से भी अधिक नीच समझे, वह वृक्ष से अधिक सहिष्णु हो। स्वयं अमानी रहकर सदा दूसरों को सम्मान दिया करे और निरन्तर श्रीहरि का कीर्त्तन-भजन करता रहे।''

मूल–

(९)

प्रगट धर्म जैसें जानियैं,
श्री हरिवंश नाम जा हियैं।
नाम सिद्धि पहिचानियैं।
श्रीहरिवंश नाम सब सिद्धि,
सबै रसिक बिलसैं नव निद्धि।
भुगतैं दैहिं न जाँचहीं॥
पोषन भरन न चिंत कराहिं,
श्रीहरिवंश विभव विलसाहिं।
श्री बृंदावन की माधुरी॥
गुन गावत जु रसिक सचु पाइ,
संतत सकल सुनहु चित लाइ।
श्री हरिवंश प्रताप जस॥

भावार्थ–

जिसके हृदय में श्रीहरिवंश नाम है, और उसे नाम की सिद्धि प्राप्त है इसके प्रकट लक्षण जैसे जाने पहचाने जायँ उनका वर्णन (ऊपर के छन्दों में किया गया) है। श्रीहरिवंश नाम ही समस्त सिद्धियों की मूल सिद्धि है। समस्त प्रेमी रसिक जन इसी हरिवंश नाम रूप नव-निधि का विलास-सुख भोगते रहते हैं। इस नाम सिद्धि एवं नव-निधि के समक्ष वे अणिमा महिमा लघिमा..आदि सिद्धि निधियों को न तो भोगते न किसी को देते और न इनकी किसी से याचना ही करते हैं। वे प्रेम मतवाले रसिक इन्हें स्वयं तो माँगे और भोगेंगे ही क्यों? यहाँ तक कि वे अपने भोजन–भरण पोषण तक की चिन्ता नहीं करते और एक मात्र श्रीहरिवंश के रस वैभव का ही विलास करते हुए अपनी भजन-भावना में डूबे रहते हैं। वह वैभव है श्रीवृन्दावन की रस माधुरी। वे रसिक जन उसी वृन्दावन माधुरी रूप श्रीहरिवंश की

गुण-माला पिरोते और सुखी रहते हैं अतः आप सब भी उस प्रताप यश का श्रवण कीजिये।

टिप्पणी–

पोषन भरन न चिंत कराहिं–

कितनी सुन्दर उक्ति है–

भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः।
योऽसौ विश्वम्भरो देवः स किं भक्तानुपेक्षते??

अर्थात् "जो भक्त जन हैं, वे व्यर्थ ही अपने भोजन एवं आच्छादन की चिन्ता किया करते हैं, अरे! जो भगवान् इस समस्त विश्व का भरण-पोषण करने वाला है वह क्या अपने भक्तों की ही उपेक्षा कर दे सकेगा?"

तब फिर यदि प्रेम-रस मत्त हित-उपासक रसिक जन भोजन (भरण-पोषण) की चिन्ता से मुक्त हैं तो क्या आश्चर्य? यदि प्रेम-मतवालों को भी पेट की चिन्ता रह गयी, तो वह प्रेम की मस्ती कैसी?

मूल– (१०)

श्री हरिवंश धर्म जे धरहिं,
श्री हरिवंश नाम उच्चरहिं।
ते सब श्रीहरिवंश के।।
श्रवन सुनहिं जे श्रीहरिवंश,
मुख बरनत बानी हरिवंश।
मन सुमिरन हरिवंश कौ।।
ऐसे रसिक कृपा जो करहिं,
तौ हमसे सेवक निस्तरहिं।
जूँठनि लै पावैं सदा।।

सेवक सरन रहै गुन गाइ ,
संतत सकल सुनहु चित लाइ।
श्री हरिवंश प्रताप जस।।

भावार्थ–

जो लोग श्रीहरिवंश धर्म को धारण करते और जो श्रीहरिवंश नाम का उच्चारण ही करते हैं वे सभी श्री हरिवंश के (निज–जन) हैं। जो केवल अपने कानों से श्रीहरिवंश–नाम सुनते, जो मुख से उनकी वाणी (श्रीहरिवंश–रचित रस ग्रंथावली) का गान करते और जो मन–मन उन श्रीहरिवंश का स्मरण ही करते हैं, (वे सभी श्रीहरिवंश के निज–जन हैं।) यदि ऐसे रसिक जन कृपा कर दें तो हमारे जैसे (अयोग्य) 'सेवक' (दास) भी अपना निर्वाह पा सकते हैं, उद्धार पा सकते हैं, अन्यथा नहीं। हमारा धर्म है कि हम उनकी सदा जूँठन प्रसादी पाया करें और उनके गुण गाते हुए उन्हीं की शरण में बने रहें।

श्रीसेवक जी कहते हैं कि जिनके नाम का यह माहात्म्य है उन्हीं श्रीहरिवंश का प्रताप यश यह गया जा रहा है इसे आप सब चित्त लगा कर सुनिये।

टिप्पणी–

''ऐसे रसिक कृपा जो करैं''–

जिनके स्वरूप का वर्णन 'प्रेमी रसिक जपत यह नाम–यहाँ से लेकर अन्तिम छन्द तक किया गया है, उन्हीं के लिये कहते हैं कि यदि ऐसे प्रेम–रस भीने रसिक किंवा कोई भी श्रीहरिवंश नाम के आश्रित कृपा कर दें तो हमारे सारे मनोरथ पूर्ण हो जायें, क्योंकि प्रेम की प्राप्ति में रसिकों की कृपा ही प्रधान है। ध्रुवदास जी ने कहा है–

रे मन रसिकन संग बिनु, रंच न उपजै प्रेम।
या रसकौ साधन यहै, जनि परसौ कछु नेम।।

अत: प्रेम रस की लालसा रखने वाले हित धर्मी को सदा प्रेमी रसिकों का संग और उनकी कृपा ही तकनी चाहिये इसका आदर्श ही मानों सेवक जी ने प्रकट किया है–''ऐसे रसिक कृपा जो करैं।''

(२) **''जूँठनि लै पावैं सदा''–**

समस्त शास्त्र, ग्रन्थ, वेद, एवं सन्त महात्मा गणों का एक ही मत सिद्धान्त है कि प्रेम रसिकों, भक्तों, सन्तों एवं वैष्णव जनों का उच्छिष्ट प्रसाद, प्रेम एवं भक्ति का दाता है। भक्तों के प्रसाद की महिमा प्रकट करने के ही लिये मानो श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु ने अपने प्रिय रघुनाथ दास का जूँठा भात छुड़ाकर खा लिया था।

वृन्दावन के रसिक भक्तों ने इसकी बड़ी प्रधानता रखी है प्रेम-प्राप्ति में। उनके वाक्य यहाँ क्रमश: कुछ थोड़ी सी संख्या में उद्धृत किये जाते हैं–

(१) साधुन के पनवारे चुनि-चुनि उदर पोषिये सीथनि।

(२) ब्रजवासिनु के जूँठ टूक अरु घर-घर छाछ महेरौ।
भूख लगे तब माँग खाइहौं गिनौं न साँझ सबेरौ।।

(३) व्यास मिठाई विप्र की तामैं लागै आगि।
वृंदावन के स्वपच की जूँठनि खैये माँगि।।

-व्यास जी

(४) खान-पान तौ कीजिये रसिक मंडली माँहि।

(५) तिनकौ चरणोदक लै, जूँठनि प्रसाद पावै सदा।

-श्रीहित ध्रुवदास जी

(६) कूकुर ह्वै वन वीथिन डोलौं बचे सीथ रसिकन के खाऊँ।

-श्रीललित-किशोरी जी

श्रीहित बानी-प्रताप

(चतुर्थ प्रकरण)

पूर्व परिचय-

इस प्रकरण में श्रीहित हरिवंश चन्द्र महाप्रभु की श्रीमुख-वाणी श्री राधा सुधा-निधि, हित चौरासी आदि काव्य ग्रन्थों का प्रताप परिचय दिया गया है कि उनमें क्या है? उन वाणियों में वृन्दावन-वर्णन, नव-निकुञ्ज वर्णन, शरद-प्रावृट् वर्णन, हिंडोला, सुरत-विहार एवं सुरतान्त आदि का ही वर्णन है।

यह श्रीहरिवंश वाणी रस से ओत-प्रोत है इसमें जिस मधुर शैली से वृन्दावन नित्य-विहार का वर्णन किया है; वैसा कहीं किसी और वाणी-ग्रन्थों में नहीं किया गया। जो लोग इसे छोड़ कर अन्यत्र रस खोजते फिरते हैं, वे मानों ज्येष्ठ की लू-धधक में मृग की तरह जल खोजते फिरने का विफल प्रयास करते हैं।

श्री हरिवंश-वाणी का श्रवण करते ही श्रीश्यामा और श्याम वश में हो जाते हैं, बस इससे अधिक इस हरिवंश वाणी के सम्बन्ध में और क्या परिचय दिया जाए? इस प्रकरण में जो कुछ कहा गया है, वह अक्षरशः सत्य है। पाठक गण इस प्रकरण में उस वाणी की महिमा पढ़कर उस वाणी की माधुरी भी चखें, तब उन्हें इस प्रकरण की सत्यता का पता लगेगा। यदि वे सच्चे जौहरी हैं, तो परख सकेंगे कि 'सेवक जी' जैसे रसज्ञ-रस-जौहरी ने कितने मूल्यावान् मणि परखे हैं-

मूल— (१)

समुझौ श्रीहरिवंश सु बानी। रसद मनोहर सब जग जानी॥
कोमल ललित मधुर पद श्रैंनी। रसिकनि कौं जु परम सुख दैंनी॥
श्रीहरिवंश नाम उच्चारा। नित बिहार रस कह्यौ अपारा॥
श्रीबृंदावन भूमि बखानौं। श्रीहरिवंश कहे ते जानौं॥
श्रीहरिवंश-गिरा रस सूधी। कछु नहिं कहौं आपनी बूधी॥
श्री हरिवंश-कृपा मति पाऊँ। तब रसिकनि कौं गाइ सुनाऊँ॥

भावार्थ—

(सेवक जी कहते हैं) रसिक-जनो ! श्री हरिवंश की सुन्दर वाणी (रचना) को समझिये कि वह कितनी कोमल, मधुर और ललित पदावली से युक्त है। इस वाणी की रस दान-शीलता और मनोहरता विश्व विख्यात है किन्तु यह प्रेमी रसिकों को तो परम सुख की दाता है। मैंने (पूर्व तीन प्रकरणों में) श्रीहरिवंश नाम उच्चारण पूर्वक अपरिमित नित्य-विहार रस का वर्णन किया है। अब श्रीवृन्दावन-भूमि का वर्णन करता हूँ जिसे मैंने श्री हरिवंश के कथन (वचन) से ही जाना है। श्रीहरिवंश की वाणी सरल रस रूपा है। मैं (उसे ही यहाँ ज्यों की त्यों कह दूँगा) कुछ अपनी बुद्धि से नहीं कहूँगा। यदि श्रीहरिवंशचन्द्र की कृपा से मैं सुबुद्धि प्राप्त करूँ तभी तो कुछ (उस वाणी का वैभव) रसिक जनों को सुना सकता हूँ, (अन्यथा यह मेरी शक्ति के परे है।)

(२)

श्रीवृन्दावन सौन्दर्य वर्णन का संकेत–

मूल–

श्रीहरिवंश जु श्रीमुख भाखी। सो बन-भूमि चित्त में राखी।।
हौं लघु मति नहिं लहौं प्रमाना। जानत श्रीहरिवंश सुजाना।।
नव पल्लव फल-फूल अनंता। सदा रहत रितु सरद-बसंता।।
श्री बृंदावन सुंदरताई। श्रीहरिवंश नित्य प्रति गाई।।

भावार्थ–

श्रीहित हरिवंशजी ने श्रीवृन्दावन का जो कुछ वर्णन किया है, मैंने उसी श्रीवन भूमि वर्णन को अपने चित्त में रख लिया है। यों तो मैं अत्यन्त अल्प मति हूँ (वृन्दावन वर्णन और उसकी सौन्दर्य सिद्धि के) कोई प्रमाण आदि जानता भी नहीं और न कहीं (शास्त्रादि में) खोजे ही पाता; इस (भूमि के यथार्थ रूप और वैभव) को तो केवल सुजान (परम चतुर) श्रीहरिवंश ही जानते हैं।

(ऐसा सब भाँति अगम्य एवं अगोचर श्रीवृन्दावन) नवीन-नवीन पल्लव, फल और अनन्त फूलों से शोभित है, वहाँ नित्य शरद एवं वसन्त ऋतुएँ छायी रहती हैं। श्रीवृन्दावन की इस सुन्दरता का गान श्रीहरिवंशचन्द्र ने नित्य नव-नवायमान् रूप में किया है।

(क) **वंशीवट निकट जहाँ....... विमल चंन्दिनी।।**

(हित-चौरासी पद संख्या १२)

(ख) **मधुरितु वृंदावन आनंद न थोर।**
.... रचित सुख पुंज ।।

(हित-चौरासी पद संख्या २७)

(ग) **राधे देखि बन की बात; .... गुन गन मात॥**

(हित-चौरासी पद संख्या २८)

(घ) **प्रथम जथामति प्रनऊँ............. मीनध्वज-पुंज ॥**

(हित-चौरासी पद संख्या ५७)

(ङ) **राधा करावचित पल्लव वल्लरी के,**

.... मनो मे ॥

(श्रीराधासुधानिधि श्लोक संख्या १३)

अस्तु, यह श्रीवन सौन्दर्य प्रतिक्षण नवीन है।

(३)

कुञ्ज केलि-विहार और सुरत रति वर्णन का संकेत-

मूल-

श्रीवृंदावन नव-नव कुंजा। श्री हरिवंश प्रेम रस पुंजा॥
श्रीहरिवंश करत नित केली। छिन-छिन प्रति नव-नव रस झेली॥
कबहुँक निर्मित तरल हिंडोला। झूलत-फूलत करत कलोला॥
कबहुँक नव दल सेज रचावहिं। श्रीहरिवंश सुरत रति गावहिं॥

भावार्थ-

श्रीवृन्दावन की नवीन-नवीन कुञ्जें ही मानो श्रीहरिवंश के प्रेम रस की पुञ्ज (समूह) हैं। उन्हीं कुञ्जों में प्रतिक्षण नित्य नूतन रस का पान करते हुए श्रीहरिवंश ही युगल रूप से मानों निरन्तर क्रीड़ा करते रहते हैं। कभी तरल (चंचल) हिण्डोल की रचना करते हैं, तो कभी उसमें युगल किशोर को झुलाते-झूलते, प्रसन्न होते और किलोल करते हैं। फिर कभी नवीन-नवीन कोमल पल्लवों की शैय्या रचते और (उसमें युगल किशोर की रति केलि सम्पन्न कराके) आप सुरत रति का गान करते हैं। श्रीवृन्दावन की नव निकुञ्जों में युगल की प्रेम-केलि के वर्णन निम्नलिखित पदों एवं श्लोकों में मिलेंगे-

(क) आजु प्रभात लता मंदिर में .... मधुर तर॥

(हित-चौरासी पद संख्या ५)

(ख) आजु निकुंज मंजु में .... मालावलि तोरी॥

(हित-चौरासी पद संख्या ७)

(ग) मंजुल कल कुंज देस .... पावनी ॥

(हित-चौरासी पद संख्या ११)

(घ) आजु देखि ब्रज सुन्दरी .... चषक झेलि ॥

(हित-चौरासी पद संख्या १७)

(ङ) देखत नव निकुंज सुनि सजनी.......... सुकुमार ॥

(हित-चौरासी पद संख्या ३०)

(च) विपिन घन कुंज रतिकेलि .... संग्रामिनी ॥

(हित-चौरासी पद संख्या ४६)

(छ) नवल नागरी नवल .... अंतर सची ॥

(हित-चौरासी पद संख्या ५०)

(ज) अद्य श्याम किशोर मौलि रहह ....

.... रंन्ध्राश्रितम् ॥

(श्रीराधासुधानिधि श्लोक संख्या १६७)

(झ) अनंग जय मंगल ध्वनित ....

.... रणोत्सवे जृम्भते ॥

(श्रीराधासुधानिधि श्लोक संख्या २२४)

(ञ) संलापमुच्छलदनंग तरंग माला...............

.... श्रृणोम्यदूरात ॥

(श्रीराधासुधानिधि श्लोक संख्या ४५)

.... इत्यादि ।

(२) ''कबहुँक निर्मित तरल हिंडोला –''

हिंडोल का वर्णन जिन पद एवं श्लोकों में है वे ये हैं–

(क) **झूलत दोऊ नवल किशोर, ... अंचल की छोर ॥**

(हित-चौरासी पद संख्या ३५)

(ख) **कबहुँ कबहुँ चंदन तरु .... किलोल ॥**

(हित-चौरासी पद संख्या ५७)

(ग) **लटकति फिरति जुवति रस फूली**

.... सजीवन मूली ॥

(हित-चौरासी पद संख्या ७७)

(घ) **क्षणं मधुर गानतः ....**

.... केलि वृंदावने ॥

(श्रीराधासुधानिधि श्लोक संख्या १६६)

(३) '' कबहुँक नवदल सेज रचावैं ''

कितने ही पद एवं श्लोकों में नवीन किशलय दलों से शय्या रचने और तदुपरान्त विहार करने का वर्णन है। उनकी भी संख्या सूचना नीचे दी जाती है –

(क) **कोमल किसलय सैंन सुपेसल ....गोरी॥**

(हित-चौरासी पद संख्या ७)

(ख) **किसलय दल रचित सैंन.......... मानिनी ॥**

(हित-चौरासी पद संख्या ११)

(ग) **किसलय सैंन रचित .... राज ॥**

(हित-चौरासी पद संख्या २७)

(घ) **नवल नागरि नवल नागर .... सची ॥**

(हित-चौरासी पद संख्या ५०)

(ङ) नागरीं निकुंज ऐंन .... सार री ॥

(हित-चौरासी पद संख्या ७६)

(च) संकेत कुञ्जमनुपल्लवमास्तरीतुं .... कटाक्षम् ॥

(श्रीराधासुधानिधि श्लोक संख्या ३१)

(छ) सङ्केत कुञ्ज निलये मृदु ....

.... वृषभानुपुत्रीम् ॥

(श्रीराधासुधानिधि श्लोक संख्या ४२)

.... इत्यादि ।

(४)

सुरतान्त छवि वर्णन का संकेत –

मूल–

सुरत अंत छबि बरनि न जाई । छिन-छिन प्रति हरिवंश जु गाई॥
आजु सँभारत नाहिंन गोरी। अंग-अंग छबि कहौं सु थोरी॥
नैंन-बैंन-भूषन जिहिं भाँती। यह छबि मोपै बरनि न जाती॥
प्रेम-प्रीति रस-रीति बढ़ाई । श्रीहरिवंश बचन सुखदाई॥

भावार्थ–

श्रीहरिवंश जी ने अपनी वाणी में श्रीप्रियालाल की जिस सुरतान्त (सुरत विहार के उपरान्त की) छवि का प्रतिक्षण गान किया है, उसका वर्णन करना अति कठिन है। (श्रीहरिवंश जी ने कहा है–) ''आजु गोरी श्रीराधा अपने आपको सम्हाल नहीं पा रही हैं; ''(उसकी ऐसी सुरतालस छवि के विषय में जो कुछ कहूँ सो कम है। (सुरतान्त समय में गोरी) राधा के नयन, वचन, भूषण जैसे कुछ (शिथिल, लज्जा, भय जागर एवं अस्त व्यस्त) हैं, वह छवि मुझ से तो वर्णन करते ही

नहीं बनती। ऐसी परम सुखदायी और प्रेम प्रीति रस रीति को बढ़ाने वाली है, श्रीहरिवंश की रस-पगी वचनावली !

टिप्पणी–

१. **''सुरत अन्त छबि बरनि न जाई''**

सुरत-क्रीड़ा प्रेम की एक अत्यन्त गुह्य रस क्रीड़ा है, जिसके उपरान्त नायक एवं नायिका थकित, शिथिल और अस्त-व्यस्त से हो जाते हैं। श्रीवृन्दावन-रस-साहित्य में इसका अमित और विशद वर्णन मिलता है। श्रीहिताचार्य चरण ने अपने ग्रन्थों में कहाँ-कहाँ इसका वर्णन किया है, उसका क्रम नीचे दिया जाता है–

(क) हित चौरासी ब्रज-भाषा काव्यग्रन्थ में क्रमानुगत पद संख्या ३, ४, ५, ६, ८, १५, २१, २३, ३१, ३३, ७०, ७७ और ८४ ।

(ख) स्फुट वाणी में क्रमशः –
पद संख्या १० और १५

(ग) श्रीराधा सुधानिधि स्तोत्र काव्य में –

स्वेदापूरः कुसुमचयनैः दूरतः ....
.... गोपये प्रेष्ठ संगम् ॥

(श्रीराधासुधानिधि श्लोक संख्या २०७)

टिप्पणी–

२. **''आजु सम्हारत नाहिंन गोरी ।''**

यह अंश तो हित चौरासी के सत्तरवें (७०) पद की प्रथम पंक्ति ही है , जिसमें श्रीहित हरिवंशचन्द्र ने सुरतान्त सुख का उन्माद प्रगट

किया है। उसे ही रस-बानगी के रूप में श्रीसेवकजी ने उठाकर ज्यों का त्यों रख दिया।

(५)

श्रीहित हरिवंश ने अपनी वाणी में रास-केलि का वर्णन किस प्रकार और कहाँ पर किया है, उसका उल्लेख करते हैं-

मूल-

बंशि बजाइ विमोहित नारी। बोली संग सु नित्यबिहारी॥
परिरंभन चुंबन रस केली। बिहरत कुँवरि कंठ भुज मेली॥
सुंदर रास रच्यौ बन माँही। जमुना पुलिन कलपतरु छाँहीं॥
रास-रंग-रति बरनि न जाई। नित-नित श्रीहरिवंश जु गाई॥

भावार्थ-

श्रीनित्यविहारी लाल ने वंशी बजाकर नारियों को मोहित कर लिया और अपने समीप बुला लिया, तत्पश्चात् आलिङ्गन एवं चुम्बन पूर्वक रस केलि होती है और कँवरि श्रीराधा, श्रीनित्यविहारी लाल से गलबहियाँ देकर विहार करती हैं। युगल-किशोर ने यमुना के तट पर विमल कल्पतरु की छाया तले श्रीवन में सुन्दर रास की रचना की।

जिस रास रंग और प्रीति-रति का वर्णन असम्भव है, श्रीहरिवंश चन्द्र ने नित्य निरन्तर उसीका गान किया है।

टिप्पणी- (१) ''बंशि बजाइ विमोहित नारी''

इस उद्धरण से हित-चौरासी के पद (६३) तिरेसठ में वर्णित महारास की ओर संकेत है।

देखिये पद ६३ हित चौरासी -

मोहन मदन त्रिभंगी ....पावत देखत मधुकर केली ॥

(६)

युगल किशोर की पारस्परिक रूपासक्ति वर्णन –

मूल–

श्रीहरिवंश प्रेम रस गाना। रसिक बिमोहित परम सुजाना॥
अंसनि पर भुज दिये बिलोकत। त्रिपित न सुंदर मुख अवलोकत॥
इंदु बदन दीखत विवि ओरा। चारु सुलोचन तृषित चकोरा॥
करत पान रस मत्त सदाई। श्री हरिवंश प्रेम रति गाई॥

भावार्थ–

श्रीहरिवंश के इस प्रेम रस गान पर परम सुजान रसिकगण किंवा परम रसिक युगल किशोर मोहित हैं। (अपनी इस प्रेम रस वाणी में श्रीहरिवंश ने कहा है–) युगल किशोर अपने कन्धों पर एक दूसरे की भुज लताओं को रखे हुए एक दूसरे की ओर देख रहे हैं किन्तु सुन्दर मुख माधुरी का पान करके तृप्त नहीं हो पाते हैं। दोनों दोनों की ओर ऐसे देख रहे हैं जैसे दोनों के चारु लोचन क्या हैं मानों प्यासे चार चकोर, जो सदा रस का पान कर-करके रस में मतवाले हो रहे हैं।

श्रीहरिवंश ने उक्त प्रकार से युगल किशोर की पारस्परिक प्रेम रति का गान किया है (ऐसा श्री सेवकजी कहते हैं।)

टिप्पणी–

''अंसनि पर भुज दियें बिलोकत''

यह अंश हित चौरासी पद संख्या ३१ में पूर्ण रूप से मिलता है, वहाँ देखिये। इसके सिवाय और भी कितने स्थलों पर रूपासक्ति और प्रेम-रति का वर्णन किया गया है, जो स्थान-सङ्कोच से लिखना कठिन है।

(७)

सम्पूर्ण हित ग्रन्थ में मूलतः किस सिद्धान्त का विवरण या विस्तार है मानों उसका सूत्र प्रकट करते हुए सेवकजी कहते हैं कि श्रीहित हरिवंश का सूत्र है— युगल की सुरत रति। और यह सुरत रति ही उनकी अराधनीय सुरीति है। वे सर्वत्र इसी सुरीति का गान करते हैं—

मूल—

श्रीहरिवंश सुरीति सुनाऊँ। स्यामा-स्याम एक सँग गाऊँ॥
छिन इक कबहुँ न अंतर होई। प्रान सु एक देह हैं दोई॥
राधा संग बिना नहिं स्याम। स्याम बिना नहिं राधा नाम॥
छिन-छिन प्रति आराधत रहहीं। राधा नाम स्याम तब कहहीं॥
ललितादिकनि संग सचु पावैं। श्रीहरिवंश सुरत-रति गावैं॥

भावार्थ—

मैं हरिवंश की सुन्दर रीति (प्रेम रीति को सुनाता हूँ जहाँ श्रीश्यामा-श्याम का एक साथ (एकीभाव से) गान किया गया है। ये दोनों कभी एक क्षण भर के लिये भी विलग नहीं होते– सदा एक साथ, मिले ही रहते हैं। ये श्यामा-श्याम प्राणों से तो एक और देह से दो - विलग-विलग जान पड़ते हैं। श्यामसुन्दर श्रीराधा के सङ्ग बिना कहीं, कभी रह ही नहीं सकते, इसी प्रकार श्यामसुन्दर के बिना श्रीराधा का [वहाँ दर्शन तो दूर] नाम भी नहीं [सुना जा सकता]। श्यामसुन्दर क्षण-क्षण प्रति श्रीराधा की आराधना करते रहते हैं और इसी प्रकार श्रीराधा भी श्रीश्याम नाम कहती या रटती रहती हैं।

इनकी ऐसी पारस्परिक आसक्ति से ललिता विशाखा आदि सहचरियाँ प्रेम सुख प्राप्त करती हैं और श्रीहरिवंश युगल की इस रस-विभोर सुरत रति का गान करते हैं।

टिप्पणी–

युगल किशोर एक ही प्रेम–तत्व के दो रूप हैं। यह सिद्धान्त श्रुति संत एवं शास्त्र सम्मत है। श्रीसेवक जी ने यहाँ मानों सबका सार लेकर उक्त वाक्य कहा है। युगल किशोर की तात्विक एकरूपता का निरूपण श्री हित–चौरासी जी के प्रथम पद में किया गया है।

मूल- (८)

श्रीहरिवंश गिरा-जस गायैं। श्रीहरिवंश रहत सचु पायैं।।
श्रीहरिवंश-नाम परसंगा। श्रीहरिवंश गान इक संगा।।
मन-क्रम-बचन कहौं नित टेरैं। श्रीहरिवंश प्राण-धन मेरैं।।
सेवक श्रीहरिवंशहि गावै। श्रीहरिवंश-नाम रति पावै।।

भावार्थ–

श्रीहरिवंश की वाणी का यशोगान करने से श्रीहरिवंश प्रसन्नता प्राप्त करते हैं; (या श्रीहरिवंश की वाणी का गान करने से श्री ह–रि–वं–श रूप चतुर्व्यूहात्मक परिकर युगल, वन और अलि सभी सुख प्राप्त करते हैं।) श्रीहरिवंश का नाम और श्रीहरिवंश की वाणी एक ही संङ्ग रहती हैं- दोनों में अभेद है।

मैं मन, वचन एवं कर्म से टेर–टेर कर स्पष्ट कहता हूँ कि मेरे प्राणधन श्रीहरिवंश ही हैं। यह सेवक श्रीहरिवंश का ही गान करता और उसके फलस्वरूप श्रीहरिवंश के नाम में रति हो, यह चाहता है अन्य कुछ नहीं।

मूल– (९)

जयति जगदीस–जस जगमगत जगत–गुरु,
जगत बंदित सु हरिवंश बानी।

मधुर कोमल सुपद प्रीति आनंद-रस,
प्रेम बिस्तरित हरिवंश बानी॥
रसिक रस-मत्त श्रुति सुनत पीवंत रस,
रसनि गावंत हरिवंश बानी।
कहत हरिवंश हरिवंश हरिवंश हित,
जपत हरिवंश हरिवंश बानी॥

भावार्थ—

जगत् के एकमात्र स्वामी (नित्य विहारी श्रीराधावल्लभलाल) के यशोगान से जगमगाती हुई, जगत् की गुरु रूपा-सर्वश्रेष्ठ, जगत्-वन्दनीय श्रीहरिवंश-वाणी ही उत्कर्ष को प्राप्त है। यह हरिवंश वाणी मधुर, कोमल सुन्दर पदों से युक्त एवं प्रीति आनन्द, रस तथा प्रेम-केलि का विस्तार करने वाली है। जिसे रसिक जन अपने कानों से सुनते ही रस से मत्त हो जाते और फिर जिसका पान करते ही रहते हैं, वे अपनी रसना से जिसका गान किया करते हैं, वह श्रीहरिवंश वाणी ही है। वे इसका गान करते, श्रवण करते इतने मतवाले हो जाते हैं कि 'श्रीहरिवंश! हरिवंश!' ही जोर से कहते, 'हरिवंश! हित-हरिवंश!' ही जपते और फिर श्रीहरिवंश नाम और हरिवंश-वाणी में एक हो जाते हैं।

(१०)

वाणी में श्रीवन-विहार का वर्णन किस प्रकार आया है उसकी ओर सङ्केत करते हैं-

मूल—

कही नित केलि रस-खेल बृंदाविपिन,
कुंज तें कुंज डोलनि बखानी।
पट न परसंत निकसंत बीथिनु सघन,
प्रेम-विह्वल सु नहिं देह मानी॥

मगन जित-जित चलत, छिन सु डगमग मिलत,
पंथ बन देत अति हेत जानी।
रसिक हित परम आनंद अवलोकतन,
सरस विस्तरित हरिवंश-बानी।।

भावार्थ—

[श्रीहरिवंश ने अपनी वाणी में] नित्य-केलि रस-क्रीड़ा-कौतुक का गान किया है और कुञ्ज से कुञ्ज में डोलने—विहार करने का भी वर्णन किया है। युगल किशोर प्रेम से विह्वल हुए अपनी देह-दशा को भुलाकर एक दूसरे से लिपटे गलबहियाँ दिये हुए अत्यन्त सकरी [लतामण्डित] गलियों से होकर निकलते हैं, फिर भी उनके वस्त्र-लताओं में उलझते नहीं, लताओं का स्पर्श तक नहीं करते, इतने एकमेक हो जाते हैं दोनों। इस प्रकार प्रेम मग्न दशा में एक दूसरे से मिले-लिपटे जिधर-जिधर डगमगाते हुए चले जाते हैं, श्रीवन युगल का अत्यन्त स्नेह जानकर अपने आप उन्हें मार्ग दे देते हैं।

इस रसकेलि का हितमय रसिक ललिता आदि अवलोकन करतीं और परमानन्द से पूर्ण हो जाती हैं।

इस सुन्दर रस का विस्तार करती है श्रीहित हरिवंश की वाणी। [ऐसा श्रीसेवकजी कहते हैं।]

टिप्पणी—

(१) ''कुंज ते कुंज डोलनि बखानी''

इस अंश का पूर्ण वर्णन, जिसका संकेत उक्त दसवें पद में किया है हित-चौरासी पद संख्या चौंतीस में है।

(११)

अब श्रीहरिवंश-वाणी में वर्णित महारास की ओर सङ्केत करते हैं-

मूल— वंश रस नाद मोहित सकल सुंदरी;
आनि रति मानि कुल छाँड़ि कानी।

बाहु परिरंभ, नीवी उरज परस, हँसि;
उमगि रति पति रमत रीति जानी।।
जूथ जुवतिनु खचित, रासमंडल रचित,
गान गुन निर्त, आनंद दानी।
तत्त थेइ थेइ करत, गतिव नौतन धरत,
रास-रस रचित, हरिवंश-बानी।।

भावार्थ—

वंशी के रस-गान से मोहित समस्त सुन्दरियाँ अपनी कुल-मर्यादा त्याग कर प्रीति पूर्वक श्रीश्यामसुन्दर के समीप आईं और वहाँ आने पर श्रीलाल जी ने उनकी बाहुओं का आलिङ्गन, नीवी और उरोजों का स्पर्श एवं हास-परिहास के द्वारा उनमें रति-पति-मदन की उमङ्ग जगाकर उनसे रमण-विहार किया। पश्चात् युवती-यूथ में सुव्यवस्थित रास-मंडल की रचना की गयी और बड़ा ही आनन्द-दायक गान और कला पूर्ण नृत्य हुआ। वे सब नृत्य में "ता थेई तत्ता थेई" कहते और नवीन-नवीन गतियों को धारण करते हुए शोभा को प्राप्त हुए।

उक्त प्रकार से रास-रस का वर्णन करने वाली है श्रीहरिवंश की वाणी।

टिप्पणी—

तत्त थेइ थेइ करत-------

इस अंश का पूर्ण रूप, हित चौरासी पद सं० ६८ में है—

तत्त थेइ थेइ करत, गतिव नौतन धरत,
पलटि डगमग ढरति मत्त गजगामिनी।
धाइ नवरँग धरी, उरसि राजत खरी,
उभय कल हंस, हरिवंश घन दामिनी।।

(१२)

वाणी की महत्ता का प्रकाश करते हुए अपनी निष्ठा का वर्णन करते हैं, उपासक जनों के विश्वास के लिये–

मूल– रास रस रचित बानी जु प्रगटित जगत,
सुद्ध अविरुद्ध परसिद्ध जानी।
स्याम-स्यामा प्रगट प्रगट अक्षर निकट,
प्रगट रस श्रवत अति मधुर बानी।।
सो जु बानी रसिक नित्य निसि-दिन रटत,
कहत अरु सुनत रस-रीति जानी।
ताहि तजि और गाऊँ न कबहूँ कछू,
प्रान रमि रही हरिवंश-बानी।।

भावार्थ–

रसिकाचार्य श्रीहित हरिवंशचन्द्र ने रास रस रचना-वर्णन से पूर्ण वाणी को जगत् में प्रकट किया जो शुद्ध, अविरुद्ध (अनुकूल) और प्रसिद्ध है। जिस वाणी के प्रत्येक अक्षर के निकट श्रीश्यामा-श्याम प्रकट हैं, जो अत्यन्त मधुर और प्रकट रूप से रस की धारा प्रवाहित वाली है। जिस वाणी का रसिक जन नित्य-निशिदिन गान करते रहते हैं और जिसका कथन-श्रवण करने से रस-रीति ज्ञात होती है। श्रीसेवकजी कहते हैं- मैं उस वाणी को छोड़कर कभी और कुछ गाऊँगा, कहूँगा ही नहीं; क्योंकि मेरे प्राणों में तो केवल वही श्रीहरिवंश-वाणी ही रम रही है।

टिप्पणी-

''स्याम स्यामा प्रगट प्रगट अक्षर निकट''

श्रीहरिवंश-वाणी के प्रत्येक अक्षर के निकट श्रीश्यामा-श्याम प्रकट रूप से विराजते हैं, इसमें कोई न तो अत्युक्ति है और न आश्चर्य ही, क्योंकि श्रीहित हरिवंश की वाणी क्या है? प्रेममयी वंशी की मादक

तान। जिसे सुनकर युगल मुग्ध रहे आते हैं। दूसरे इस वाणी में सर्वत्र श्रीप्रिया जी की महिमा का गान है, जो प्रियतम श्रीलालजी का प्राण है। वे उस गुण-गान को सुनकर उसी गान में रम रहे हैं। श्रीकिशोरी अलि जी ने कहा है-

जो कोऊ श्रीराधा जस गावै।
अति आसक्त रूप रस लोभी स्याम तहाँ चलि आवै॥
प्रफुलित कमल कुसुम पर जैसें भ्रमर आनि मँड़रावै।
तैसेहिं राधा नाम लेत ता आगे मौंहन बैंनु बजावै॥
प्रेम बँध्यौ सो संगहि डोलै अतिसै नेह जनावै।
राधा नाम उपासक कौ हरि आपुन दास कहावै॥

और जहाँ राधा हैं वहाँ श्रीकृष्ण अवश्य हैं। युगल और युगल के नाम गुण लीला; दो तत्व नहीं एक ही हैं। नाम और नामी में अभेद है। इस दृष्टि से भी वाणी में युगल का निवास है, अतः सिद्ध है कि

तेनेय वांगमयी मूर्त्ति प्रत्यक्षा वर्त्तते हरेः।

अर्थात् ''यह उन श्रीहरि की वाणीमयी मूर्त्ति है, वे युगल इसमें प्रत्यक्ष रूप से विराजमान् हैं।

(१३)

रस-लोलुप रसोपासकों को श्रीहरिवंश-वाणी में ही रमने की प्रेरणा प्रदान कर रहे हैं-

मूल-

भाग-अनभाग जानत जु नहिं आपनौं,
कौन धौं लाभ अरु कौन हानी।
प्रगट-निधि छाँड़ि कत फिरत रूँका* करत,
भरम भटकत सु नहिं भूल जानी॥

---

* रुँका प्रान्तीय शब्द है। जिसका अर्थ है भिखमंगा पन, टुकड़खोरी या ऐसा हीन कार्य जो सदा-सदा उसे उसी निम्न-दशा में डाले रखे, नौंच-खसोट जैसा कार्य।

प्रीति बिनु रीति रूखी जु लागति सकल,
जुगत करि होत कत कवित-मानी।
रसिक जो सद्य चाहत जु रस-रीति फल,
तौ कहौ अरु सुनौ हरिवंश-बानी।।

भावार्थ–

कितने ही लोग अपना भाग्य-दुर्भाग्य नहीं जानते और न यही जानते हैं कि क्या लाभ है और क्या हानि है? यदि वे यह जान ही लेते तो क्यों प्रकट निधि (भण्डार) को छोड़कर जहाँ-तहाँ टुकड़ खोरी करते फिरते? दुख है कि वे भ्रम में ही भटक रहे हैं उन्हें अपनी भूल का भी पता नहीं है।

[ऐसे भटके हुए लोगों से सेवकजी कहते हैं–] अरे भाईयों! तब फिर तुम व्यर्थ ही क्यों युक्तियों के द्वारा काव्यादि रचना करके कविताई का केवल स्वाभिमान लाद रहे हो? अर्थात् केवल सुछन्द-रचना कर देने से कोई प्रेमी नहीं बन सकता। यदि तुम रसिक बनना चाहते हो? अभी सद्य रस रीति का फल (सुखास्वादन) चाहते हो? तो [मेरी राय मान कर] श्रीहरिवंश-वाणी को ही कहो और सुनो!

टिप्पणी–

(१) ''जुगति करि होत कत कवित मानी।''

किसी हृदय में प्रेम का प्रकाश होने पर वहाँ से सहज ही एक सरस काव्यधारा प्रवाहित हो जाती है, जो उस व्यक्ति के अध्ययन या ज्ञान, संचय से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। कहते हैं कि मीरा और कबीर जैसे प्रेमी और तत्ववेत्ता भी अपढ़ थे पर उनकी सरस काव्य-धारा को देखिये; जिसके सामने बड़े-बड़े दिग्गज साहित्यिक पानी भरते हैं।

कुछ लोग जो विद्वान तो हैं, पर भाव-भक्ति और परमार्थ-ज्ञान से कोरे हैं, वे अपनी विद्वत्ता के बल पर लोगों को धोखा देना चाहते

हैं। वे अपने मस्तिष्क की सहायता से भक्तों में अपना नाम लिखाना चाहते हैं। सो कैसे? यों कि सुन्दर-सुन्दर शब्द-योजना और रस अलङ्कार भाव समन्वित पद, गीत और काव्य की रचना करके यह प्रकट करना चाहते हैं कि हम भी भक्त-समाज के एक अंग हैं । ऐसा करने से वे नाम और प्रतिष्ठा तो कमा सकते हैं किन्तु भक्ति या प्रीति नहीं। ऐसे ही लोगों के लिये श्रीशंकराचार्य पाद ने कहा है-

वाग्वैखरी शब्दी झरी पटु व्याख्यान कौशलम्।
वैदुष्यं विदुषानां वै भुक्तये न तु मुक्तये।।

अर्थात्-

''सुन्दर वाणी की रचना, शब्दों की झड़ी लगा देना, व्याख्यान की कुशलता यह सब पण्डितों की पण्डिताई है। इससे भोग तो मिल सकते हैं पर मोक्ष नहीं।''

ऐसे 'मानी कवि' प्रेम-योगी रसिक भक्त नहीं कहे जा सकते, हाँ रीति-काल के कवि अवश्य कहे जा सकेंगे। इन्हीं के लिये भगवत रसिकजी ने कहा है-

नाचैं, गावैं, चित्र बनावैं करैं काव्य चटकीली।
साँच बिना हरि हाथ न आवैं सब रहनी है ढीली।।

यही बात श्रीसेवकजी कह रहे हैं कि यदि तुम्हें रस रीति पाना है, रसास्वादन करना है तो श्रीहरिवंश वाणी कहो और सुनो। व्यर्थ युक्तियों से मानी कवि बनने की चेष्टा न करो, यह प्रेम पाने का तरीका नहीं है।

(१४)

फिर भी पूर्वोक्त कथित प्रकार से ही वाणी की महत्ता और स्वरूप का प्रकाश करते हैं-

मूल–

यहै नित केलि येई जु नाइक निपुन,
यहै बन भूमि नित नित बखानी।
बहुत रचना करत राग-रागिनी धरत,
तान बंधान सब ठाँनि आनी।।
ज्यौं मूँद नहिं मिलत टकसार तैं बाहिरी,
लाख में गैर मुहरी जु जानी।
यौं जु रस-रीति बरनत न ठाँई मिलत,
जो न उच्चरत हरिवंश-बानी।।

भावार्थ–

श्रीसेवक जी कहते हैं- यह हरिवंश वाणी ही नित्य केलि है, यही निपुण नायक श्रीलाल एवं श्रीप्रिया जी है और यही श्रीवृन्दावन भूमि है, जिसका बखान 'नित्य-नित्य' कहकर किया गया है, (अर्थात् दम्पति, वन और अलिगणों से सम्पन्न चतुर्व्यूहात्मक नित्य विहार यह वाणी ही है।) फिर क्यों लोग व्यर्थ ही बहुत सी रचना करते, राग-रागिनियों को धारण करते और अन्य-अन्य प्रकार के तान बन्धान ठानते हैं? [इसी श्रीहरिवंश वाणी में क्यों नहीं रमते? यह तो निश्चित है कि] जो सिक्का टकसाल से बाहर ढाला गया है उसकी बनावट (ढाल) टकसाली सिक्के से नहीं मिल सकती; वह टकसाली मोहर छाप से हीन सिक्का तो लाखों में पहचान लिया जायगा। इसी प्रकार जो श्रीहरिवंश वाणी उच्चारण-गान नहीं करते उन्हें रस-रीति का वर्णन करते हुए भी रसिकों में ठाँव ठिकाना नहीं मिल सकता। [चाहे भले ही वे अपने आपको रसिक कहा करें। जैसे बाहरी सिक्का, सिक्का होने पर भी टकसाली सिक्का नहीं कहा सकता इसी प्रकार श्रीहरिवंश-वाणी

से दूर रहने वाला व्यक्ति रसिक कहलाकर भी टकसाली – पक्का मोहरी रसिक नहीं है।]

टिप्पणी–

मूँद नहिं मिलत टकसार ते बाहरी–

टकसाल, सरकारी सिक्के (मुद्रा) ढलने का स्थान है। कुछ लोग टकसाली सिक्कों की नकल करके कुछ सिक्के टकसाल से बाहर चोरी–चोरी ढाल लेते हैं। चूँकि वे टकसाल के ढले सिक्कों जैसे ही होते हैं; क्योंकि नकल हैं। किन्तु फिर भी पारखी लोग उन्हें देखते ही पहचान लेते हैं; मूर्ख भले ही धोखा खा जायँ।

इसका आशय यह है कि इसी प्रकार श्रीहरिवंश धर्म और श्रीहरिवंश–वाणी रसिकता की असल टकसाल है। यहीं से पक्के रसिक रूपी सिक्के ढाले जाते हैं। किन्तु कुछ लोग इसकी देखा–देखी वाणी आदि रच–बनाकर सिक्का ढालने की सी कोशिश करते हैं किन्तु रसिकों के सामने उनका नकली पना खुल जाता है; क्योंकि मूँद (मुद्रा, सजातीयता) जो नहीं मिलती। मूँद क्यों नहीं मिलती? क्योंकि वे तो – **''टकसार ते बाहरी''** हैं न।

(१५)

सच्चे रस–लालची साधक के प्रति कहते हैं कि 'रसिकपने' का मिथ्याभिमान छोड़कर रसमयी श्रीहरिवंश वाणी में मन देने से ही रस की प्राप्ति हो सकती है–

मूल–

रसिक बिनु कहे सब ही जु मानत बुरौ,
रसिकई कहौ कैसे जु जानी।

आपनी आपनी ठौर जेही तहाँ,
आपनी बुद्धि के होत मानी॥
निपट करि रसिक जौ होहु तैसी कहौ,
अब जु यह सुनौं मेरी कहानी।
जौरु तुम रसिक रस रीति के चाड़िले,
तौरु मन देहु हरिवंश-बानी॥

भावार्थ–

'रसिक' न कहने पर तो सभी [उपासक-गण] बुरा मान लेते हैं; [कि हम रसिक क्यों नहीं, तुम्हीं क्यों?] किन्तु यदि उनसे पूछा जाय कि तुमने रसिकता कैसे जानी? [तो शायद बोल न आवेगा। तात्पर्य यह कि वे रसिक-फसिक तो कुछ हैं नहीं पर उनमें रसिक पने का मिथ्या अभिमान अवश्य है।] वे रहते तो हैं अपनी उसी पुरानी ठौर (स्थिति) में, पर बुद्धि के मानी अवश्य बन जाते हैं [कि हम भी रसिक हैं।]

सेवक जी कहते हैं कि भाइयों! यदि तुम सचमुच भींने सुलझे और पक्के रसिक हो तो वैसा स्पष्ट कहो; अथवा अब यह मेरी कथा-चर्च्चा ही चित्त देकर सुनो। वह क्या? तुम सचमुच रसिक तो हो नहीं पर हाँ; यदि रसिक बनना चाहते हो, तुममें रस रीति पाने की चाह चाड़ है–उसके तुम इच्छुक हो तो [विश्वासपूर्वक] श्रीहरिवंश-वाणी में मन दो। [वही एकमात्र रसदात्री है।]

(१६)

श्रीहरिवंश-वाणी से अतिरिक्त वेद-शास्त्र रूप घोर वन में भटकने से कभी रसिकता नहीं मिल सकती, अतः निश्चयपूर्वक इसी वाणी में मन लगाने का आदेश करते हैं–

मूल–

वेद-विद्या* पढ़त कर्म धर्मनि करत,
जलप तन-कलप की अवधि आनी।
चारु गति छाँड़ि संसार भटकत भ्रमत,
आस की पासि नहिं तोरि जानी॥
सकल स्वारथ करत रहत जनमत-मरत,
दु:ख अरु सुक्ख के होत मानी।
छाँड़ि जंजार कैसे न निश्चय धरत,
एक किन रमत हरिवंश-बानी॥

भावार्थ–

अरे मूढ़! वेद-विद्याओं को पढ़ते, कर्म-धर्मों को करते और व्यर्थ जल्पना (बकवास) करते तो तेरे मरने की अवधि आ गयी। तू सुन्दर मार्ग और गति को छोड़कर संसार में भ्रमता भटकता है; तू आशा की फाँसी भी तोड़ न पाया अर्थात् आशापाश से बँधा ही रहा। तू स्वार्थ के सब कार्यों को करते हुए बार-बार जन्मता और मरता ही रहा। दु:ख और सुखों का मिथ्या भोक्ता (मानी) बना रहा। अरे! अब भी [समय है] इस माया-जंजाल को त्यागकर क्यों नहीं एक निश्चय धारण कर लेता [कि श्रीहरिवंश-वाणी ही सर्वोपरि है?] और तब फिर क्यों इस हरिवंश-वाणी में नहीं रमता? [जहाँ तहाँ क्यों भटकता फिरता है? इससे शान्ति कैसे पा सकेगा, अभागे?]

टिप्पणी–

"वेद विद्या पढ़त"–

* वेदों में वर्णित विद्याओं में मुख्य चौदह हैं- पिंगल,पाक, शिल्प, सामुद्रिक, ज्योतिष, योग, राजनीति, आयुर्वेद (वैद्यक), अस्त्र, शस्त्र, गान्धर्व (गान विद्या), कोक, व्याकरण और मन्त्र-तन्त्र (सावर) विद्या।

जो लोग प्रेम को प्राप्त न करके वेद पठन, यज्ञ साधन या अन्याय कर्मों में लग रहे हैं वे व्यर्थ भार ढो रहे हैं। उनका कार्य सन्तों की दृष्टि में व्यर्थ है। जैसा कि श्रीरसखानजी ने कहा है–

पोथी पढ़ि पंडित हुआ कै मौलवी कुरान।
जु पै प्रेम जान्यो नहीं कियौ कहा रसखान॥

और भी–

गंगाजू में न्हाय मुकताहल लुटाय,
वेद बीस बेर गाय धयान कीजतु सकारे सौं।
एतेहूँ भये तौ कहा कियौ ''रसखानि''
जु पै चित्त दै न कीन्हीं प्रीति पीत पट वारे सौं॥

अस्तु; यदि कोई वेद-विद्या पारंगत भी हो जाय तो क्या हुआ? उसे इस वेदाध्ययन से कभी प्रीति या रसिकता की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये यहाँ उनकी हेयता प्रदर्शित की गयी है।

(१७)

जीवन के अमूल्य क्षणों को व्यर्थ कार्यों में व्यतीत करने वालों के प्रति उपदेश करते हैं–

मूल–

बृथा बलगन करत द्यौस खोवत सकल,
सोवतन राति नहिं जाति जानी।
ऐसैं भाँति समुझ्यौ न कबहूँ कछू,
कौन सुख-दुःख को लाभ-हानी॥
तब सुक्ख हरिवंश गुन नाम रसना रटत,
और बहु वचन अति दुःख दानी।
हानि हरिवंश के नाम अंतर परे,
लाभ हरिवंश उच्चरत बानी॥

भावार्थ–

अरे भाई! तू व्यर्थ बकबाद करता हुआ अपने सारे जीवन के दिन खो रहा है और सोते-सोते रातें जा रहीं हैं उन्हें भी बीतते हुए नहीं जान पा रहा है। इसी प्रकार तूने यह भी कभी कुछ न समझा कि क्या सुख है, क्या दुःख है, क्या लाभ है और क्या हानि है? [तू तो पूरा अनजान रहा पर ले मैं तुझे बताता हूँ कि] सुख वही है, जो तेरी वाणी श्रीहरिवंश के गुण और नामों को रटती रहे और इसके सिवाय बाकी सब बहुत सा बोलना-कहना ही अत्यन्त दुःखप्रद है। श्रीहरिवंश-नाम-स्मरण में अन्तराय पड़ना ही सबसे बड़ी हानि है और लाभ है- श्रीहरिवंश वाणी का उच्चारण करते रहना।

(१८)

'वाणी प्रताप' प्रकरण का उपसंहार करते हुए नाम-वाणी और युगल-किशोर की एकता समीपता और घनिष्ठता सिद्ध करते हैं कि जहाँ नाम-वाणी हैं; वहीं श्यामा श्याम हैं। एक ही वस्तु के ये सब रूप हैं-

मूल-

नाम-बानी निकट स्याम-स्यामा प्रगट,
रहत निसि-दिन परम प्रीति जानी।
नाम-बानी सुनत स्याम-स्यामा सुबस,
रसद माधुर्य अति प्रेम दानी॥
नाम-बानी जहाँ स्याम-स्यामा तहाँ,
सुनत गावंत मो मन जु मानी।
बलित सुभ नाम बलि विसद कीरति जगत,
हौं जु बलि जाउँ हरिवंश-बानी॥

भावार्थ–

[श्रीसेवकजी कहते हैं–] श्रीहरिवंश के नाम और वाणी के निकट श्रीश्यामा–श्याम उसे परम प्रेममयी जानकर दिन–रात प्रकट रूप से विद्यमान् रहते हैं। श्रीहरिवंश–नाम और वाणी को सुनते ही श्रीश्यामा–श्याम उस नाम–वाणी गायक के वशीभूत होकर उसके लिये माधुर्य–रस के दाता और महान् प्रेम के दाता बन जाते अर्थात् उसे प्रेम रस प्रदान कर देते हैं इस नाम और वाणी के प्रताप से। किं बहुना? जहाँ नाम और वाणी हैं, श्रीश्याम और श्यामा भी वहीं हैं, [अन्यत्र नहीं;] इस नाम और वाणी को सुनते और गाते रहने पर ही मेरा मन मानता है अर्थात् मुग्ध रहता है। मैं इस शुभ नाम [श्रीहरिवंश] की बलिहारी जाऊँ; नाम की विश्वव्यापी कीर्त्ति की बलिहारी जाऊँ और बलिहारी जाऊँ इस श्रीहरिवंश–वाणी की।

(१९)

नाम, वाणी और श्रीहरिवंश की महिमा गान करते हुए अत्यन्त आनन्दातिरेक से पूरित होकर बार–बार बलिहारी जाते हैं–

मूल–

बलि बलि श्रीहरिवंश नाम बलि बलित विमल जस।
बलि बलि श्रीहरिवंश कर्म–व्रत कृत सु नाम बस॥
बलि बलि श्रीहरिवंश बरन धर्मनि गति जानत।
बलि बलि श्रीहरिवंश नाम कलि प्रगट प्रमानत॥
हरिवंश नाम सु प्रताप बलि, बलित जगत कीरति विसद।
हरिवंश विमल बानी सु बलि, मृदु कमनीय सु मधुर पद॥१९॥

भावार्थ–

[श्रीसेवकजी कहते हैं–] मैं हरिवंश नाम की बलि–बलि जाऊँ और उनके विमल यश की बलि–बलि जाऊँ और बारम्बार बलि जाऊँ

उन श्रीहरिवंश की, जिन्होंने समस्त कर्म और व्रत आदि को नाम का (अनुगत) वशवर्त्ती बना दिया है। अहो! श्रीहरिवंश वर्णाश्रम धर्म की भी गति (शक्ति सामर्थ्य) जानते हैं [कि ये क्या कितनी शक्ति रखते हैं इस प्रेम राज्य में ?] कलियुग में तो केवल नाम को ही प्रमाणित किया है श्रीहरिवंश ने, मैं इनकी बलिहारी, बलिहारी, बारम्बार बलिहारी जाता हूँ। मैं श्रीहरिवंश नाम की बलि हूँ और बलि हूँ उस नाम की विश्वव्यापी पवित्र कीर्त्ति की! मैं श्रीहरिवंश की विमल वाणी की बलि हूँ और उस वाणी की कोमल मधुर और कमनीय पदावलि की बलि हूँ।

टिप्पणी–

कलियुग में केवल भक्ति ही सफल साधन है। भक्ति के अतिरिक्त अन्यान्य वेदोक्त, शास्त्रोक्त साधन शक्तिहीन हो चुके हैं। इस युग में न तो योग का बल है न ज्ञान का; न कर्म का न व्रत का। इसी प्रकार वर्णाश्रम आदि सनातन धर्म भी मोक्ष या जीव के आत्यन्तिक कल्याण में अब विफल हैं। इस तत्व को लक्षित कराते हुए ही सेवकजी ने लिखा–

(अ) 'कर्म व्रत कृत सु नाम बस'

(ब) 'वरन-धर्मनि गति जानत'

(स) 'नाम कलि प्रगट प्रमानत'

अर्थात् भक्ति और नाम के समक्ष व्रत, कर्म, और वर्णाश्रम धर्म तुच्छ हैं।

।। जै जै श्रीहरिवंश ।।

श्रीहित स्वरूप सार संचयन

(पंचम् प्रकरण)

पूर्व परिचय–

श्रीहित हरिवंशचन्द्र महाप्रभु साक्षात् प्रेम–तत्व के ही अवतार हैं। यह प्रेम व्यापक और एक देशीय भी है। प्रेम स्वयं ब्रह्म है। इस प्रकरण में श्रीहरिवंश के व्यापक हित स्वरूप का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि श्रीहरिवंश ही विश्व की उत्पत्ति पालन और प्रलय के कारण हैं एवं विश्वरूप कार्य भी वही हैं, वे प्रकृति, ब्रह्म और ब्रह्म विद्या भी हैं। श्रीहरिवंश सगुण रूप में व्यासनन्दन हैं। रूप, गुण और प्रेम की खानि हैं। वे प्रेम रस रूप, रसमय तत्व और कृपा के धाम हैं। वे सबकी आत्मा और मन हैं। श्रीहरिवंश ही सबके जीवन और प्राण हैं। किमधिकं श्रीहरिवंश ही सात्विक राजस तामस भाव, लोभ, शुभ कृत्य, शुद्ध विचार, पूजा, परमार्थ, विवेक, तृष्णा, वीर्य (बल) मंगलकारी, धीरता, यश, सुयश रस–लोलुपता आदि अनेक रूपों में हैं।

और इसीलिये वे प्रेमी साधकों के लिये कुलदेव, जाति, ऋद्धि, सिद्धि, वेद–विधि, अद्वय तत्व, योग, सुखभोग, प्रतीति, प्रमाण, प्रियतम, प्रियता, श्रवण दर्शन और मनन करने के योग्य, संचित सार तत्व और सर्वस्व हैं।

उक्त बातों का विस्तार श्रीसेवक जी के वचनों में इस प्रकार है–

मूल– (१)

प्रथम प्रनम्य सुरम्य मति, मन–बुधि–चित्त प्रशंस।
चरन शरन सेवक सदा, सु जै जै श्रीहरिवंश।।



ललितादिक श्यामा अरु श्याम। श्रीहरिवंश प्रेम रस धाम। नाम प्रगट जग जानिये।।

श्रीहरिवंश विपुल गुन मिष्टं, श्रीहरिवंश उपासक इष्टं।
श्रीहरिवंश कृपा मति पाऊँ, श्रीहरिवंश विमल गुन गाऊँ॥
गाऊँ हरिवंश नाम जस निर्मल, श्रीहरिवंश रमित प्रानं।
कारज हरिवंश प्रताप सु उद्दित, कारन श्रीहरिवंश भनं॥
विद्या हरिवंश मंत्र चतुरक्षर, जपत सिद्धि भव उद्धरनं।
जै जै श्रीहरिवंश जगत मंगल पर, श्रीहरिवंश चरन शरनं॥१॥

भावार्थ–

[श्रीसेवकजी कहते हैं–] मैं सर्वप्रथम अपनी सुरम्य मति (सन्मति) से श्रीहरिवंश को प्रणाम करके फिर अपने मन, बुद्धि और चित्त से उनकी प्रशंसा करता हूँ। यह सेवक सदा श्रीहरिवंश की ही चरण–शरण में है। इन श्रीहरिवंशचन्द्र की जय हो, जय हो। श्रीहरिवंश के विपुल (बहुत–से) गुण हैं और सब गुण मधुर हैं। श्रीहरिवंश ही उपासकों के इष्ट तत्व हैं अथवा उपासक भी हैं और इष्ट भी, यदि मैं श्रीहरिवंशचन्द्र की कृपा से सन्मति प्राप्त करूँ तो ही उनके निर्मल गुणों का गान कर सकता हूँ; अन्यथा नहीं। मैं श्रीहरिवंश के विमल यश और गुणों का गान करता हूँ; श्रीहरिवंश ही मेरे प्राणों में रम रहे हैं। ये हरिवंश विश्वरूप कार्य बनकर अपने प्रताप का उदय किये हुए हैं और यही हरिवंश विश्व के कारण भी कहे जाते हैं, (अर्थात् सृष्टि के कार्य और कारण दोनों ही आप हैं।) श्रीहरिवंश ही ब्रह्म–विद्या हैं और हरिवंश नाम के चार अक्षर ही वह महामंत्र है, जिसके जप करने से तत्काल सिद्धि मिल जाती है और संसार से उद्धार हो जाता है। ऐसे जगत–मंगल परायण किंवा विश्व के परम मंगल रूप

श्रीहरिवंश की जय हो, जय हो मैं इन्हीं श्रीहरिवंश की चरण-शरण में हूँ।

टिप्पणी-

(अ) प्रथम प्रणम्य-

प्रेम की दशा निराली है। इसमें सारे सुचारु क्रम अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। श्रीसेवकजी ने इस ग्रन्थ (वाणी) का प्रकाश महा प्रेमोन्मत्त दशा में किया है अतः ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रणाम का क्रम सहज रूप से विस्मृत हो गया। यहाँ जब वे श्रीहरिवंश के स्वरूप का सार-सार संचय करने लगे तब श्रीहरिवंश की ऐश्वर्य शक्ति की ओर लक्ष्य गया तब उन्होंने 'सुरम्य मति' से प्रणाम किया।

(आ) भव-

इसका अर्थ कहीं-कहीं उन भगवद्धामों से किया गया है जहाँ की आसक्ति निष्ठा और प्रीति जीवों (उन-उन धामादिकों में आसक्त भक्तों) को धामादिकों में बाँध देती है और वे उनसे छूट नहीं पाते। फलतः नित्य विहार तत्व से वञ्चित रह जाते हैं। इन धामादिकों को सिद्ध-भव इसलिये कहा गया है कि यहाँ जाकर भी वापस मृत्युलोकों में आना पड़ता है; यथा बैकुण्ठ से जय-विजय का पतन।

"श्रीहरिवंश मंत्र चतुरक्षर" ही इस भव से बचाकर साधक को नित्य वस्तु की प्राप्ति करा सकता है। ऐसा सेवकजी का मत है।

(२)

प्रत्येक मंत्र के मुख्य पाँच अङ्ग होते हैं- ऋषि, देवता, छन्द, बीज और शक्ति। इस छन्द में इन्हीं की ओर सङ्केत किया गया है-

मूल–

हरिरिति अक्षर बीज रिषि वंशी सक्ति सु अंस।
नख सिख सुंदर ध्यान धरि जै जै श्रीहरिवंश॥
श्रीहरिवंश जु सुंदर ध्यानं, श्रीहरिवंश विसद विज्ञानं।
श्रीहरिवंश नाम-गुन-श्रूपं, श्रीहरिवंश प्रेम-रस रूपं॥
रसमय हरिवंश परम परमाक्षर, श्रीहरिवंश कृपा सदनं।
आतम हरिवंश प्रगट परमानंद, श्रीहरिवंश प्रमान मनं॥
जीवन हरिवंश विपुल सुख संपति, श्रीहरिवंश बलित बरनं।
जै जै श्रीहरिवंश जगत मंगल पर, श्रीहरिवंश चरन सरनं॥२॥

भावार्थ–

[इस सम्पूर्ण ग्रन्थ-सेवक वाणी में] 'हरिवंश' ये चार अक्षर बीज हैं और इसके [उपदेष्टा-प्रकाशक] ऋषि हैं वंशी। इस मंत्र की शक्ति है अंश (अर्थात् अपने लक्ष्य सखी स्वरूप जो श्रीराधा की अंश-किरण है, उसकी प्राप्ति।) [इस हरिवंश मंत्र का छन्द चतुरक्षर 'हरिवंश' ही है और इसके देवता भी श्रीहरिवंश हैं;] जिनका नख-शिख सुन्दर ध्यान धारण करना कर्त्तव्य है ऐसे श्रीहरिवंश की जय हो, जय हो। श्रीहरिवंश ही सुन्दर ध्यान हैं और श्रीहरिवंश ही पवित्र रहस्यात्मक ज्ञान हैं। श्रीहरिवंश नाम ही उनके अपने गुण (प्रेम) का स्वरूप है और श्रीहरिवंश ही प्रेम रस रूप हैं। रसमय श्रीहरिवंश ही परात्पर एवं सर्वश्रेष्ठ अक्षर (अविनाशी) तत्व हैं और श्रीहरिवंश ही कृपा के धाम हैं। प्रगट रूप से विराजमान् परमानन्दमय श्रीहरिवंश ही [प्रत्येक प्राणी की] आत्मा हैं तथा वस्तु-सिद्धि के प्रमाण-रूप मन भी वही हैं। श्रीहरिवंश ही जीवन, अनन्त सुख एवं अतुल सम्पत्ति हैं। मैं 'हरिवंश' इन वर्णों की बलिहारी जाता हूँ। जगत के कल्याण-परायण श्रीहरिवंश की जय हो। मैं इनकी ही चरण-शरण में हूँ।

टिप्पणी–

(अ) हरिरिति अक्षर बीज ऋषि वंशी सक्ति सु अंस।
नख सिख सुंदर ध्यान धरि जै जै श्रीहरिवंश॥

इस दोहे में सेवक-वाणी माला-मन्त्र के पाँच अङ्गो- बीज, ऋषि, शक्ति, छन्द और देवता का वर्णन है। पहले बताया गया है कि 'हरिवंश' यह 'बीज' है, वंशी स्वयं ऋषि हैं, जो सम्मोहन का कार्य करती हैं। इस माला मंत्र की शक्ति है अपनी अंशी रूपा स्वामिनी श्रीराधा के नित्य-विहार परिकर में प्रवेश करा देना अर्थात् श्रीहरिवंश नाम ही साधक को उस स्थल तक पहुँचा सकता है; अन्य नहीं। इसके देवता हैं- स्वयं श्रीहरिवंश, जिनके नख शिख ध्यान करने का आदेश है और इस मंत्र का छन्द भी 'हरिवंश' चतुराक्षर है।

यहाँ यह शंका स्वाभाविक है कि सेवक वाणी माला-मन्त्र के पाँचों अङ्गों का समाहार एक ही वस्तु में क्यों है? अर्थात् जो बीज है वही ऋषि है वही शक्ति वही देवता और वही छन्द भी।

इसका उत्तर संक्षेप में इतना ही है कि श्रीहरिवंश ही सर्वमय हैं, सर्वातीत हैं और सर्वव्यापक तत्व हैं। बीज रूप हैं, ऋषि रूप हैं, शक्ति हैं, छन्द हैं और देवता भी हैं- अतएव यहाँ उसीके रूप को प्रकट करने के लिये श्रीसेवकजी ने यह रहस्यात्मक वाक्य कहा है।

टिप्पणी–

(आ) आतम हरिवंश प्रगट परमानँद श्रीहरिवंश प्रमान मनं;

श्रीहरिवंश ही प्रगट परमानन्दमय आत्म तत्व हैं, इसका प्रमाण है अनुभव से डूबा हुआ अपना मन। जिसने नित्य-विहार केलि का अनुभव करके यह जान लिया है कि श्रीहरिवंश ही की यह सम्पूर्ण लीला है, उसके लिये स्वयं उसका मन प्रमाण है। इस हित तत्व का

अनुभव किये बिना कोई महामहिम भी तर्क या विवाद से इसे नहीं जान सकता। श्रीहित ध्रुवदासजी ने कहा है-

अगम निगम की कौन चलावै। महाविष्णु के मन नहिं आवै।।
यह रस गायौ श्रीहरिवंश। मुक्ता कौन चुने बिनु हंस।।

महाविष्णु इसे क्यों नहीं जान सकते? क्योंकि वे महामहिम हैं। जैसे कोई राज्य मंत्री राजमहलों–रनिवास में प्रवेश पाने का अनाधिकारी है किन्तु एक सुकुमारी कन्या तुच्छ होकर भी अधिकारिणी है। दूसरे जैसे रेत में मिले चीनी के कणों को लघु चींटी ले सकती है पर हाथी नहीं पा सकता और भी जैसे मछली और मेंढक कमल के निकट के निवासी हैं पर वे उसका पराग नहीं ले सकते पराग तो भ्रमर ही ले सकता है।

इसी प्रकार सुकुमारी कन्या, चींटी और भ्रमर की तरह शरणागत अनन्य हितधर्मी ही इस रस का अधिकारी है, ब्रह्मा शिवादिक नहीं। इस विश्वास के लिये प्रमाण है अपना अनुभवयुक्त मन।

मूल– (३)

सरन निरापक पद रमित, सकल असुभ-सुभ नंस।
देत सहज निस्चल भगति, जै जै श्रीहरिवंश।।
श्रीहरिवंश मुदित मन लोभं, श्रीहरिवंश वचन वर सोभं।
श्रीहरिवंश काय कृत कारं, श्रीहरिवंश त्रिसुद्ध विचारं।।
पूजा हरिवंश नाम परमारथ, श्रीहरिवंश विवेक परं।
धीरज हरिवंश विरद बल बीरज, श्रीहरिवंश अभद्र हरं।।
तृस्ना हरिवंश सुजस रस लंपट, श्रीहरिवंश कर्म करनं।
जै जै हरिवंश जगत मंगल पर, श्रीहरिवंश चरन शरनं।।३।।

भावार्थ–

जो [श्रीराधा के] रमणीय चरणों की शरण का निरूपण करने वाले हैं, जो समस्त पाप-पुण्यों का नाश करने वाले एवं सहज और अविचल भक्ति का दान करने वाले हैं, उन श्रीहरिवंश की जय हो, जय हो। श्रीहरिवंश प्रसन्न मन के लोभ और श्रीहरिवंश ही श्रेष्ठ एवं शोभापूर्ण वचन हैं; (अर्थात् रस प्राप्ति के लोभ और रसमय मधुर वचन रचना रूप हैं।) श्रीहरिवंश ही शरीर धारण करने की कृत कार्यता (सफलता) हैं; [भाव यह कि शरीर-धारण करके जिसने श्रीहरिवंश को पा लिया उसने अपनी काया सफल कर ली।] श्रीहरिवंश ही मन, वचन, कर्म की पवित्रता पूर्ण त्रिशुद्ध विचार हैं। श्रीहरिवंश ही पूजकों की पूजा हैं, इनका नाम ही परमार्थियों का परमार्थ है और श्रीहरिवंश ही परात्पर विवेक स्वरूप हैं। श्रीहरिवंश ही साधकों के धैर्य, बल, शक्ति और कीर्त्ति हैं और यही श्रीहरिवंश ही समस्त अमंगलों का हरण करने वाले हैं। वे ही रस की प्यास हैं, रस के सुयश रूप हैं, रस के लोलुप हैं और श्रीहरिवंश ही समस्त कर्मों के कर्त्ता किंवा करण (कारण, हेतु) हैं। इन जगत-मंगल परायण श्रीहरिवंश की जय हो, जय हो, मैं इन्हीं श्रीहरिवंश की चरण-शरण में हूँ।

टिप्पणी–

'जै जै हरिवंश जगत मंगल पर'

श्रीहरिवंश जगत् के लिये परम मंगल स्वरूप इसलिये हैं कि आप मंगलमय धाम बैकुण्ठ, साकेत, गोलोक आदिकों से भी परे महा मंगलमय वृन्दावन धाम के नित्य-विहार तत्व का प्रकाश करते हैं। जिस नित्य विहार की सर्वोपरिता का निरूपण सभी रसिक-सन्तों ने एक स्वर से किया है। इस नित्य विहार में ही सब धामादिकों का अन्तर्भाव है।

नित्य विहार में ही अनेक नाम, रूप धाम लीलाओं की समाविष्टता का वर्णन श्रीमोहनजी ने किया है-

एक हुतौ अब एक ह्वै ह्वै है एक अदेह।
'मोहन' अपने मोह कौं नेह धरी द्वै देह॥
घट घट में परगट दुर्‌यौ बिनु अकार आकार।
पूरि रह्यौ हित जगत में सहज रूप सिंगार॥

ऐसे ही चतुर्भुजदासजी कह रहे हैं-

तब करि कृपा व्यासनंदनजू सुख कौ सुखसार बतायौ हरिजू॥

श्रीभगवत रसिक जी भी केवल एक नित्यविहारी से ही सृष्टि के प्रकाश का निरूपण करते हैं-

नित्य विहारी की कला प्रथम पुरुष अवतार।
तासु अंस माया भई जाकौ सकल पसार॥
जाकौ सकल पसार महत्ततु उपज्यौ तातैं।
अहंकार उत्पन्न भयौ श्रुति कहत हैं जातैं॥
अहंकार त्रै रूप भयौ सिव विधि असुरारी।
भगवत सबकौ तत्व बीज श्रीनित्यबिहारी॥

अस्तु, मुरली नाद-ब्रह्म की जननि है, प्रेम रूपा है। इसी की ध्वनि से समस्त वेद-उपनिषदों का प्राकट्य है। श्रीनन्ददास जी मुरली की सर्वोपरिता का वर्णन करते हैं-

जाकी धुनि ते अगम निगम प्रगटे बड़ नागर।
नाद-ब्रह्म की जननि मोंहनी सब सुख सागर॥

इस प्रेम रूपा मुरली ने ही समस्त वेद-उपनिषदों का सार नित्य विहार रस प्रकट किया है; अतः परम मंगल रूपा है।

मूल- (४)

श्रीहरिवंश सुगोत कुल, देव जाति हरिवंश।
श्रीहरिवंश स्वरूप हित, रिद्धि-सिद्धि हरिवंश॥

श्रीहरिवंश विदित विधि वेदं, श्रीहरिवंश जु तत्व अभेदं।
श्रीहरिवंश प्रकासित जोगं, श्रीहरिवंश सुकृत सुख भोगं।।
प्रज्ञा हरिवंश प्रतीति प्रमानत, प्रीतम श्रीहरिवंश प्रियं।
गाथा हरिवंश गीत गुन गोचर, गुपत गुनत हरिवंश गियं।।
सेवक हरिवंश सार संचित सब, श्रीहरिवंश धरम धरनं।
जै जै श्रीहरिवंश जगत मंगल पर, श्रीहरिवंश चरन शरनं।।४।।

भावार्थ–

[प्रत्येक हित-धर्मी के] श्रीहरिवंश ही उत्तम गोत्र, कुल, देव हैं और जाति भी श्रीहरिवंश ही हैं। श्रीहरिवंश ही स्वयं हित (प्रेम) स्वरूप हैं और श्रीहरिवंश ही ऋद्धि-सिद्धि हैं। श्रीहरिवंश ही विख्यात वेद-विधि हैं। श्रीहरिवंश ही अभेद (सर्वव्यापक अद्वय ब्रह्म) तत्व हैं। प्रसिद्ध योग (अष्टाङ्ग योग) भी श्रीहरिवंश हैं और समस्त सुकृतों (पुण्यों) का सुख-भोग फल भी वही श्रीहरिवंश हैं। श्रीहरिवंश ही शुद्ध-बुद्धि, विश्वास एवं प्रमाणों से प्रमाणित प्रियतम हैं, (अर्थात् इष्ट रूप हैं) और वही श्रीहरिवंश प्रियता (प्रीति) भी हैं। श्रीहरिवंश गाथा (गान का विषय), गीत, गुण, गुप्त विषय, (गोपनीय) गोचर (प्रकट रूप), तत्व हैं और श्रीहरिवंश ही सबके सार रूप मननीय तत्व एवं जानने योग्य ज्ञेय-तत्व भी हैं।

इस प्रकार सेवक जी ने सारतिसार तत्व का संचय किया है। सब तत्वों का सार तत्व श्रीहरिवंश ही है। और मैं उन्हीं श्रीहरिवंश के धर्म को धारण करता हूँ। ऐसे परम-मंगल रूप जगत के लिये कल्याण परायण श्रीहरिवंश की जय हो, जय हो; मैं इन्हीं श्रीहरिवंश की चरण-शरण में हूँ, यही मेरे सर्वस्व हैं।

टिप्पणी–

इस छन्द में श्रीहरिवंश का स्वरूप बहुत महान बताया गया है। वे केवल एक आचार्य या रसिक महानुभाव ही नहीं हैं अपितु वह सर्वरूप हैं और सब रूपों के सार तत्व हैं। इस सर्व रूप श्रीहरिवंश को जान लेने पर और कुछ न तो जानना आवश्यक है और न किसी प्रकार की इच्छा ही करना अभीष्ट है।

(५)

अब प्रकरण का उपसंहार करते हैं और जय-जयकार के साथ श्रीहरिवंश के 'चन्द्र' रूप का वर्णन करते हैं; जो निर्मल, अकलङ्क, कलि-तम का छेदन करने वाला, सबको प्रेम शान्ति एवं शीतलता प्रदान करने वाला है-

मूल–

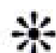
जै जै श्रीहरिवंशचंद्र द्विजवर कुल मंडन।
जै जै श्रीहरिवंशचंद्र कलि तम भव खंडन।।
जै जै श्रीहरिवंशचंद्र अकलंक प्रकासित।
जै जै श्रीहरिवंशचंद्र सब जग आभासित।।
हरिवंशचंद्र अमृत बरषि, सकल जंतु तापनि हरनं।
सेवक समीप संतत रहै सु, श्रीहरिवंश चरन शरनं।।

भावार्थ–

श्रेष्ठ द्विजराज (श्रीव्यास मिश्र) के कुल भूषण श्रीहरिवंशचन्द्र की जय हो, जय हो। कलियुग के अज्ञान अन्धकार एवं संसार के आवागमन का विनाश करने वाले श्रीहरिवंशचन्द्र की जय हो, जय हो। उन श्रीहरिवंश 'चन्द्र' की जय हो, जय हो जो [विश्व में] कलङ्क रहित रूप से जगमगा रहे हैं और उन चन्द्र रूप श्रीहरिवंश की जय-जयकार

हो जिनसे सारा जगत् प्रकाशित है। जिन श्रीहरिवंशचन्द्र ने अपने स्वरूप से रसामृत की वृष्टि करके विश्व के सब प्राणियों का पाप-ताप हरण कर लिया, यह 'सेवक' सदा उन्हीं के समीप निवास करता है और उन्हीं श्रीहरिवंश की चरण-शरण में है ऐसे विश्व के लिये मंगल परायण श्रीहरिवंशचन्द्र की सदा जय हो, जय हो।

॥ जै जै श्रीहरिवंश ॥



श्रीहित धर्मिन-कृत्य

(षष्ठ प्रकरण)

पूर्व परिचय–

श्रीहित हरिवंशचन्द्र के प्रेम-मार्ग पर चलने वाले भक्तजन हित धर्मी कहे गये हैं क्योंकि वे हित धर्म का पालन करते हैं। इन धर्मियों के कर्त्तव्य कर्म क्या हैं? इसका ही इस प्रकरण में संक्षेप वर्णन है। यहाँ कर्त्तव्य-कर्मों की क्रियात्मक व्याख्या न होकर भावनात्मक व्याख्या है। क्योंकि भावना की शुद्धि और पुष्टि हो जाने पर क्रियाएँ अपने आप शुद्ध हो जाती हैं।

अस्तु इस प्रकरण में क्रमशः हित धर्मियों का सङ्ग, श्रीहरिवंश-नाम स्मरण-गान, अनन्यता, निर्भरता और श्रीहरिवंश के प्रति सर्वस्व-समर्पण के वर्णन के साथ अन्त में फल की प्राप्ति के निर्देश में बताया गया है कि–

जब राधिका स्याम प्रसन्न भये।
तब नित्य समीप सो खैंचि लये।।

यह नित्य-विहार की प्राप्ति ही हित-धर्मी का अन्तिम लक्ष्य और फल है। प्रत्येक कर्त्तव्य, कर्म, धर्म, साधना उपासना का लक्ष्य अनन्त सुख की प्राप्ति है। वह अनन्त सुखों का मूल-श्रीसेवकजी के वर्णनानुसार श्रीहरिवंशचन्द्र द्वारा प्रकटित श्रीवृन्दावन-विहार है, जिसकी प्राप्ति के लिये यथोचित विधानों का ही इस प्रकरण में सङ्केत है-

मूल- (१)

पहिले हरिवंश सुनाम कहौं।
हरिवंश सुधर्मिन संग रहौं।।

हरिवंश सु नाम सदा तिनकैं।
सुख संपति दंपति जू जिनकैं॥१॥

भावार्थ–

सर्वप्रथम 'श्रीहरिवंश' यह सुन्दर नाम कहो, [तब उस नाम की कृपा से] श्रीहरिवंश के सुधर्मियों का सङ्ग प्राप्त होगा। सुखों की सम्पत्ति रूप श्रीयुगल किशोर जिनके हैं, उन्हीं का यह श्रीहरिवंश सुन्दर नाम सदा का अपना है–उनकी निज सम्पत्ति है।

टिप्पणी–

''हरिवंश सुनाम सदा तिनकें।
सुख संपति दंपतिजू जिनकें॥''

जिन्होंने युगल किशोर को अपनी संपत्ति बना लिया है वही श्रीहरिवंश के सुन्दर नाम के अधिकारी हैं अथवा सदा ही श्री हरिवंश नाम उनके समीप निवास करता है। श्रीकिशोर-किशोरी की भक्ति, कृपा और प्रीति का यही फल है कि श्रीहरिवंश नाम अपना हो जाय। साधक प्रेमी की उसमें निष्ठा होकर वह उसे भजने लग जाय।

या यों कहिये कि सुख सम्पत्ति रूप ये युगल किशोर जिसके अपने हो जाते हैं उन प्रेमियों के लिये श्रीहरिवंश नाम भी उनका अपना हो जाता है। क्योंकि श्रीहरिवंश नाम युगल सरकार से विलग नहीं है। यह इसलिये कि श्रीयुगल-किशोर और हरिवंश ये दोनों अभिन्न तत्व हैं। किंवा सुख-मय सम्पत्ति रूप युगल किशोर जिनके जीवन-लक्ष्य हैं, अर्थात् जो उन्हें प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हीं के लिये यह श्रीहरिवंश-नाम अपना हो सकेगा। अन्य कोई इस नाम से प्रीति क्यों करेगा?

मूल— (२)

हरिवंश सु नाम कहौं नित कैं।
मिलि ही कहौ कृत्य सु धर्मिनु कैं॥
हरिवंश उपासन हैं तिनकैं।
सुख संपति दंपति जू जिनकैं॥

भावार्थ—

नित्य-निरन्तर 'श्रीहरिवंश' इस नाम को ही रटते (कहते) रहो और मन मिलाकर [प्रीतिपूर्वक] सुधर्मियों के लीला चरित्रों (कृत्यों) का गान करो। [जो ऐसा करते हैं,] और जिनकी सुखमयी सम्पत्ति केवल युगल सरकार हैं, [वही सच्चे धर्मी हैं, वास्तव में] उन्हीं के श्रीहरिवंश-उपासना है, [अन्य के नहीं।]

मूल— (३)

हरिवंश गिरा रस-रीति कहैं।
सुकृती जन संगति नित्य रहैं॥
कछु धर्म विरुद्ध नहीं तिनकैं।
सुख संपति दंपति जू जिनकैं॥

भावार्थ—

जो हरिवंश की वाणी और उनके द्वारा प्रकाशित रसरीति का कथन-वर्णन करता हो और सदा पुण्यात्मा (हित धर्मी-जनों) के सत्सङ्ग में रहता तथा सुख की संपत्ति युगल-दम्पत्ति ही जिनके अपने हों ऐसे धर्मियों के लिये [उनका यह कर्त्तव्य] कुछ भी धर्म विपरीत नहीं है।

टिप्पणी—

''सुकृती-जन संगति नित्य रहै''

प्राणियों का सबसे बड़ा सुकृत है, श्रीहरिवंश-चरणों के अनुरागियों में अनुराग होना। जिसने इस सुकृत-पुण्य को प्राप्त कर लिया है, वही सच्चा सुकृती है। इन सुकृती – हितचरणानुरागी जनों का ही सङ्ग श्रीहरिवंश तत्व की प्राप्ति करा सकेगा। और यह नित्य विहार रूप श्रीहरिवंश-तत्व की प्राप्ति सर्वरूपेण धर्मानुकूल आचरण ही है।

मूल– (४)

हरिवंश प्रसंसत नित्य रहैं।
रस रीति विवर्धित कृत्य कहैं॥
जु कछू कुल कर्म नहीं तिनकैं।
सुख संपति दंपति जू जिनकैं॥

भावार्थ–

जो जन नित्य निरन्तर श्रीहरिवंश की ही प्रशंसा करते, (अर्थात् उनके लीला-गुण प्रभाव आदि का गान करते रहते हैं), [नित्य-विहार उपासना सम्बन्धी] रस-रीति के बढ़ाने वाले लीला-चरित्र, सेवा-भावना क्रिया आदि का कथन-श्रवण करते हैं एवं श्रीयुगल किशोर रूप सुख-सम्पदा जिनकी अपनी है वे सब तरह से कृतकृत्य हैं। उनके लिये अब कुछ भी व्यवहारादि कर्म शेष नहीं हैं। [यदि वे कुल व्यवहारादि कृत्यों को न भी करें, तो उनको उससे कोई हानि नहीं हैं।]

टिप्पणी–

''रस रीति विवर्धित कृत्य कहैं''

हित धर्मी साधक रस रीति को बढ़ाने वाले या रस रीति से सम्पन्न चरित्रों का वर्णन करे। वे चरित्र क्या हैं? श्रीहरिवंश किंवा युगल सरकार के नाम, गुण लीला चरित्रादि का गायन, कथन, श्रवण। यहाँ केवल इन्हीं कृत्यों के करने का आदेश है। प्रेमी के लिये केवल इतने

ही कर्म धर्मानुकूल हैं शेष सब प्रतिकूल। भाव यह कि श्रीहरिवंश-धर्म से सम्बन्धी धर्म ही अनुकूल हैं और विपरीत धर्म प्रतिकूल हैं, ऐसा समझना चाहिये।

मूल– (५)

हरिवंश सु नाम जु नित्य रटैं।
छिन जाम समान न नैंकु घटैं॥
विधि और निषेध नहीं तिनकैं।
सुख संपति दंपति जू जिनकैं॥

भावार्थ–

जो नित्य श्रीहरिवंश नाम ही रटते हैं। जिनके नाम-स्मरण में घड़ी-प्रहर सब एक से ही बीतते हैं जो कभी जरा भी अपनी अविच्छिन्न धारा से हटते नहीं और न घटते ही हैं और जो सुख की सम्पदा दम्पत्तिजू (किशोर-किशोरी) से आत्मीयता रखते हैं, उनके लिये [शास्त्रीय] विधि-निषेध क्या? कुछ भी नहीं है, (अर्थात् वे विधि-निषेध के बन्धनों से ऊपर हो चुके हैं।)

टिप्पणी–

''विधि निषेध''–

वेदों में ब्रह्माजी ने सांसारिक प्राणियों के लिये प्राय: दो प्रकार की आज्ञाओं का विधान किया है, एक विधि अर्थात्–वेदोक्त नित्य कर्म संध्या वन्दन, तर्पण, बलि-वैश्व देव आदिकों का अवश्य पालन और निषेध–अर्थात् आदर्श–विपरीत, सदाचार-भृष्ट कर्मों के लिये नकारात्मक आदेश; यही विधि और निषेध है।

किन्तु जो प्रेम में तल्लीन हो गया वह सब विश्व को भूलने के साथ इन आज्ञाओं को भी भूल गया। ऐसा तल्लीन प्रेमी स्वयं उन

आज्ञाओं का उल्लंघन नहीं करता वरं उसे सबका ध्यान ही नहीं रह जाता; जैसा कि श्रीहिताचार्य पाद ने कहा है-

न जानीते लोकं न च निगम जातं कुल परं-
परां वा नो जानत्यहह न च सतां चापि चरितम्।
रसं राधायामाभजति किल भावं व्रज मणौ,
रहस्ये तद्यस्य स्थितिरपि न साधारण गतिः॥

-श्रीराधासुधानिधि-१४६

अर्थात् ''जो महानुभाव इस रसोपासना क्षेत्र में व्रजमणि श्रीराधा के भाव एवं रस का निश्चित रूप से भजन-सेवन करते हैं, अहो! वे न तो लोक को जानना चाहते न निगम-समूह को ही। वे न कुल परम्परा को ही जानने की इच्छा रखते और न साधु-आचरण की ही। श्रीराधा चरणानुरागी ऐसे रसिकों की स्थिति साधारण नहीं वरं असाधारण है।''

इन प्रेमियों का विधि-निषेध कुछ और ही है; श्रीव्यासजी ने कहा है-

सेवा-विधि; निषेध जड़ संगति, वृत्ति सदा वृंदावन वास।

युगल किशोर की सेवा ही विधि-(आज्ञा) है और जड़, नास्तिक, भगवद्विरोधी जनों का सङ्ग ही निषेध है।

मूल- (६)

हरिवंश सुधर्म जु नित्य करैं।
हरिवंश कही सु नहीं बिसरैं॥
हरिवंश सदा निधि हैं तिनकैं।
सुख संपति दंपति जू जिनकैं॥

भावार्थ-

जो सदा श्रीहरिवंश के सुन्दर धर्म का पालन करते हैं और श्रीहरिवंश ने जो कहा है, उसे नहीं भूलते। युगल सरकार से जिनका

ऐकान्तिक प्रेम है, ऐसे प्रेमियों के लिये तो श्रीहरिवंश उनकी सदा की निधि हैं- वे उन प्रेमियों से विलग होना ही नहीं जानते।

टिप्पणी–

''हरिवंश कही''-

श्रीहित हरिवंशचन्द्र ने अपनी वाणियों में उपासक-जनों के लिये वैसे तो अनेकों आज्ञायें दी हैं पर सब में प्रधान है-संत सङ्ग करने की आज्ञा। वे सर्वत्र इस एक आज्ञा की बड़ी महत्ता दिखाते हैं; उनके श्रीमुख वाक्यों में ही देखिये-

(अ) साधु संगति करि अनुदिन राती।

–स्फुट वाणी

(आ) तनहिं राखु सतसंग में मनहिं प्रेम रस भेव।

–स्फुट वाणी

(इ) यह जिय जानि स्याम स्यामा पद-
कमल संगि सिर नायौ। –हित चौरासी

(ई) त्यक्ता: कर्मभिरात्मनैव भगवद्धर्मेप्यहो निर्ममा:।
सर्वाश्चर्य्य गतिं गता रसमयीं तेभ्यो महद्भ्यो नमः।

–श्रीराधासुधानिधि

अर्थात् ''जो श्रीराधा चरणानुरागवश होकर भगवद्धर्म से भी विरत (ममता हीन) हो चुके हैं जिन्हें कर्मों ने स्वयं ही त्याग दिया तथा जो सबसे अधिक आश्चर्य पूर्ण रसमयी गति को प्राप्त हैं उन महापुरुषों को नमन है।''

यहाँ 'नमन' करना आदर सूचक तो है ही वरं उनके प्रति और भी अनेक भावनाओं का प्रकाश प्रकट करता है अर्थात् रसिक संतों को ही सर्वस्व समझे।

अस्तु; उपरोक्त सभी आज्ञाएँ सत्सङ्ग की ओर प्रेरित करती हैं यही 'श्रीहरिवंश कही' है।

मूल–

(७)

हरिवंश प्रतापहिं जानत हैं।
हरिवंश प्रबोध प्रमानत हैं॥
हरिवंश सु सर्बसु हैं तिनकैं।
सुख संपति दंपति जू जिनकैं॥

भावार्थ–

जो श्रीहरिवंश के प्रताप (महत्व, स्वरूप) को ठीक-ठीक जानते हैं, जो श्रीहरिवंश के द्वारा कहे गये वचनों को ही अपने लिये उत्तम बोध (विवेक, समझ) मानते हैं एवं सुख सम्पत्ति दम्पति ही जिनके अपने हैं उनके तो श्रीहरिवंश ही सर्वस्व हैं।

मूल-

(८)

हरिवंश विचार परे जु रहैं।
हरिवंश धरम्म धुरा निबहैं॥
हरिवंश निबाहक हैं तिनकैं।
सुख संपति दंपति जू जिनकैं॥

भावार्थ–

जो श्रीहरिवंश (विचारों के ही) परायण हैं, उनके धर्म की धुरी को धारण करके उसे निभाना चाहते हैं, ऐसे अनन्य उपासकों के धर्म का निर्वाह श्रीहरिवंश ही करते हैं, क्योंकि सुखमय सम्पत्ति दम्पत्ति के वे उपासक हैं।

मूल–

(९)

हरिवंश रसायन पीवत हैं।
हरिवंश कहैं सुख जीवत हैं॥

हरिवंश पतिव्रत हैं तिनकैं।
सुख संपति दंपति जू जिनकैं।।

भावार्थ–

जिनकी सुख सम्पत्ति श्रीयुगल किशोर हैं, जो केवल श्रीहरिवंश-रसायन (श्रीहरिवंश द्वारा प्रगटित श्रीप्रियालाल के दिव्य विहार रस) का पान करते हैं और जो 'श्रीहरिवंश'नाम गान से अपने जीवन को सुखमय बना लेते हैं, वास्तव में उनका ही सच्चा पातिव्रत (अपने स्वामी के प्रति अनन्य-निष्ठा) है; अन्य किसी का नहीं।

टिप्पणी–

(अ) हरिवंश रसायन–

रसिकाचार्य वर्य श्रीहित हरिवंशचन्द्र ने भगवद् प्राप्ति के विभिन्न साधनों की अपेक्षा विशुद्ध प्रेम-मार्ग से केवल रसिक युगल-किशोर की ही उपासना-भक्ति करने का आदेश दिया है। यह नित्य विहार केलि ही 'श्रीहरिवंश-रसायन' है।

(आ) हरिवंश पतिव्रत–

उत्तम पतिव्रता के लिये जिस प्रकार पति ही सर्वस्व है; उसी प्रकार अनन्य हित धर्मी के लिये केवल श्रीहरिवंश ही उसके सर्वस्व हैं, पति हैं, प्रियतम हैं और जीवन हैं। इन श्रीहरिवंश को नित्य-विहार प्रकाशक रूप में जान कर इनके प्रति सर्वात्म समर्पण ही 'हरिवंश पतिव्रत' है।

मूल– (१०)

हरिवंश गिरा रसरीति भनैं।
हरिवंश कहैं हरिवंश सुनैं।।

हरिवंश हृदय व्रत हैं तिनकैं।
सुख संपति दंपति जू जिनकैं॥

भावार्थ–

अब जिनके श्रीयुगल किशोर ही सुख सम्पत्ति हैं वे श्रीहरिवंश-वाणी और श्रीहरिवंश-रसरीति को ही कहते [सुनते] हैं एवं श्रीहरिवंश नाम को ही कहते और श्रीहरिवंश नाम को ही सुनते हैं, (अर्थात् उनके लिये श्रीहरिवंश नाम-वाणी के सिवाय और कहीं कुछ नहीं है।) ऐसे हित ध र्मियों के हृदय में तो श्रीहरिवंश का ही एक दृढ़तम व्रत है।

मूल– (११)

हरिवंश कृपा हरिवंश कहैं।
हरिवंश कहैं हरिवंश लहैं॥
हरिवंश सु लाभ सदा तिनकैं।
सुख संपति दंपति जू जिनकैं॥

भावार्थ–

कोई भाग्यवान् ही श्रीहरिवंश-कृपा से 'श्रीहरिवंश' यह नाम कह पाता है और जो 'श्रीहरिवंश' कहता है वह श्रीहरिवंश को पाता भी है। सुखमय दम्पति (श्रीराधावल्लभलाल) ही जिनकी सम्पत्ति है; उनके लिये तो श्रीहरिवंश ही परम लाभ हैं।

मूल– (१२)

हरिवंश परायन प्रेम भरे।
हरिवंश सु मंत्र जपैं सुधरे॥
हरिवंश सु ध्यान सदा तिनकैं।
सुख संपति दंपति जू जिनकैं॥

भावार्थ–

जो श्रीहरिवंश के रसमय प्रेमसे परिपूर्ण हैं, जो भली प्रकार 'श्रीहरिवंश' इस सुन्दर मन्त्र का ही जप करते हैं और सुख-सम्पत्ति दम्पति ही जिनके सर्वस्व हैं, उन प्रेमियों के लिये श्रीहरिवंश ही सुन्दर ध्यान हैं।

मूल– (१३)

नित श्रीहरिवंश सु नाम कहैं।
नित राधिका स्याम प्रसन्न रहैं॥
नित साधन और नहीं तिनकैं।
सुख संपति दंपति जू जिनकैं॥

भावार्थ–

जो नित्य निरन्तर 'श्रीहरिवंश' यही सुन्दर नाम कहता रहता है उस पर श्रीराधिका एवं श्रीश्यामसुन्दर भी नित्य प्रसन्न रहते हैं। जिसके लिये सुख सम्पत्ति दम्पति जू सर्वस्व हैं, फिर उनके लिये और-और साधनों की क्या आवश्यकता है? अर्थात् उनके लिए तो और साधनों का महत्व ही नहीं है।

मूल– (१४)

जब राधिका स्याम प्रसन्न भये।
तब नित्य समीप सु खैंचि लये॥
हरिवंश समीप सदा तिनकैं।
सुख संपति दंपति जू जिनकैं॥

भावार्थ– जब [श्रीहरिवंश-कृपा से] श्रीराधा एवं श्रीश्याम प्रसन्न हुए तो उन्होंने [उस कृपापात्र अधिकारी जीव को] अपने समीप सदा के

लिये खींच लिया, जहाँ पर श्रीहरिवंश श्रीयुगल किशोर के समीप नित्य विराजते हैं, फिर तो ऐसे कृपापात्र के लिये सुख की सम्पत्ति श्रीयुगलकिशोर श्रीराधावल्लभलाल तो उनके अपने ही हैं।

मूल– (१५)

नित नित श्रीहरिवंश-नाम, छिन-छिन जु रटत नर।
नित नित रहत प्रसन्न, जहाँ दंपति किशोर वर॥
जहाँ हरि तहाँ हरिवंश, जहाँ हरिवंश तहाँ हरि।
एक शब्द हरिवंश नाम, राख्यौ समीप करि॥
हरिवंश नाम सु प्रसन्न हरि, हरि प्रसन्न हरिवंश रति।
हरिवंश चरन सेवक जिते, सुनहु रसिक रसरीति गति॥१५॥

भावार्थ–

जो जन सदा-सर्वदा प्रतिक्षण 'श्रीहरिवंश' नाम ही रटते रहते हैं, उन पर नव-किशोर वर दम्पति श्रीराधावल्लभलाल सदा-सदा प्रसन्न रहते हैं। यह सिद्धान्त है कि जहाँ पर श्रीहरि हैं, वहाँ श्रीहरिवंश भी हैं और इसी प्रकार जहाँ 'श्रीहरिवंश' हैं, वहाँ श्रीहरि भी अवश्य होंगे। यह दोनों की अभेद स्थिति तो 'हरिवंश' नाम से ही सिद्ध है कि इस 'हरिवंश' नाम ने एक ही शब्द से दोनों को समीप (एकीभाव) कर रखा है। श्रीहरिवंश नाम (स्मरण भजन) से श्रीहरि प्रसन्न होते हैं और श्रीहरि की प्रसन्नता प्राप्त होने पर श्रीहरिवंश के चरणों की प्रीति प्राप्त होती है।

श्रीसेवकजी कहते है–हे रसिकों! आप जो जन श्रीहरिवंश–चरणों के सेवक हैं, दास हैं अब रस रीति की गति (मार्ग, रहस्य का वर्णन) सुनिये।

टिप्पणी–

हरिवंश नाम सौं प्रसन्न हरि, हरि प्रसन्न हरिवंश रति।

श्रीहरिवंश, श्रीहरि (श्रीलाल जी) के सर्वस्व हैं, उनके हृदय-आराधित तत्व स्वयं प्रेम हैं। इन श्रीहरिवंश नाम के श्रवण मात्र से श्रीहरि प्रसन्न हो जाते हैं। अतएव उच्चारण करने वाले पर रीझकर अपनी सर्वस्व वस्तु प्रेम-हित ही दे डालते हैं क्योंकि उनके पास अब इस प्रेम से महान् और कोई वस्तु है नहीं, जिसे देकर वे अपने प्रेमी से मुक्त हों।

यहाँ 'हरिवंश रति' बहुत व्यापक अर्थ में है जिसका स्फुरण श्रीराधा-कृपा सम्पन्न प्रेमी के विशुद्ध हृदय में ही होता है, यहाँ उसका लिखना न तो उचित ही है और न मुझमें योग्यता ही है उसके लिखने की। इतना ही अलं है कि प्रेम का जहाँ तक अनन्त और अनिवर्चनीय विस्तार है, वह सबका सब 'हरिवंश-रति' के नाम से एक शब्द में प्रकट किया गया है। इसमें जड़ जगत लौकिक मोह से उठकर दिव्यातिदिव्य नित्य-विहार तक की सब स्थितियाँ समायी हुईं हैं।

।। जै जै श्रीहरिवंश ।।